सृष्टि का सिरमौर

- योग तथा धर्म का तुलनात्मक अध्ययन

भाग-2

कृपाल सिंह

‘सृष्टि का सिरमौर’

भाग-2

मूल अंग्रेज़ी पुस्तक :
'The Crown of Life: A Study in Yoga', 1961

हिन्दी अनुवाद :
प्रथम संस्करण : 1994
द्वितीय संस्करण : 2021 *(संशोधित)*

मुद्रक :

समर्पण

समर्पित है सर्वशक्तिमान परमात्मा को,
जो सभी पूर्ववर्ती संत–महापुरुषों के रूप
में कार्य करता रहा है तथा परम संत
हुज़ूर बाबा सावनसिंह जी महाराज को,
जिनके पावन चरणों में बैठकर लेखक
ने पवित्र नाम–शब्द का परम–मधुर
अमृत–रस–पान किया।

प्राक्कथन

योग *के इस तुलनात्मक अध्ययन की शुरूआत पश्चिम के जिज्ञासुओं एवं शिष्यों के द्वारा इस विषय पर लगातार पूछे जाने वाले प्रश्नों के कारण हुई। परन्तु, उनको एक प्रणालीबद्ध एवं विस्तृत तरीक़े से उत्तर उपलब्ध कराने के प्रयास में यह पुस्तक अपने मूल रूप से काफ़ी बड़ी हो गई है। परन्तु, मैं आशा करता हूँ कि अपने वर्तमान स्वरूप में अब यह न केवल उन प्रारम्भिक प्रश्नकर्ताओं के लिये ही उपयोगी होगी, बल्कि आमतौर पर उन सभी जिज्ञासुओं के लिये भी लाभदायक होगी, जो यह जानना चाहते हैं कि योग क्या है, इसके कितने प्रकार हैं तथा उनकी विधियाँ तथा आध्यात्मिक क्षमतायें क्या हैं।*

प्रकाशन के इस युग में, योग के विषय पर पुस्तकों की कोई कमी नहीं हैं। परन्तु, यदि हम सावधानीपूर्वक उनकी समीक्षा करें, तो हम पायेंगे कि उनमें से ज़्यादातर किसी एक या दूसरी दिशा में सीमित रह जाती हैं। वे योग को या तो प्रमुखतया आसनों व शारीरिक व्यायाम की पद्धति मानती हैं या फिर एक अत्यन्त गूढ़ (abstract) तथा एकत्ववादी (monistic) विचार पद्धति मानती हैं, जिसमें सम्पूर्ण जीवन की एकता तथा जीवात्मा और परमात्मा की मूलभूत एकरूपता का बोध कराया जाता है। इन दोनों ही अवस्थाओं में, हमें योग के बारे में जो बोध प्राप्त होता है, वह अधूरा होता है, क्योंकि ऐसी विचारधारा योग को आध्यात्मिक अनुभव करने तथा परमात्मा में एकमेक हो जाने की एक व्यावहारिक विधि से घटाकर एक शारीरिक पोषण या फिर दर्शनशास्त्र की एक विचारधारा (या विचार-धाराओं) तक सीमित कर देती है।

इस प्रकार की त्रुटि की संभावना से बचने के उद्देश्य से, इस अध्ययन में सभी विवेचनों का केन्द्र-बिन्दु, सभी योगों के अंतिम ध्येय- परमात्मा से एकाकार होने को ही रखा गया है। योग की सभी महत्त्वपूर्ण प्राचीन व आधुनिक विधाओं को बारी-बारी से लिया गया है, उनकी क्रिया-विधियों का वर्णन तथा विवेचन किया गया है, तथा उनमें से प्रत्येक हमें चरम् लक्ष्य की ओर किस हद तक ले जा सकता है, इसका मूल्यांकन किया गया है। यही विषय शायद योग-सम्बंधी तुलनात्मक अध्ययन का सबसे अधिक ग़लतफ़हमी का तथा भ्रामक पक्ष रहा है। रूहानी अनुभवों का ऐसा गुण ही है कि जब आत्मा, निचले मंडलों से, जिनकी वह अभ्यस्त होती है (बिना एक उच्चतर मार्गदर्शक के, अगले मंडल में पहुँचती है, वह अपने से उच्चतर मंडल को ही ग़लतफ़हमी से सर्वोच्च व परिपूर्ण मंज़िल मान बैठती है। इस तरह हम पाते हैं कि अधिकांश योग-विधियाँ, जब हमें आंतरिक आध्यात्मिक यात्रा में किसी निश्चित बिन्दु तक ले जाती हैं, तो उसे ग़लती से अंतिम ध्येय मानकर अपने आपको परिपूर्ण समझ लिया जाता है।

इस प्रकार, मौजूदा भ्रम की अवस्था से बचने के लिये और योग की प्रत्येक विद्या के तुलनात्मक आध्यात्मिक महत्त्व का मूल्यांकन करने के लिये एकमात्रा रास्ता यही है कि हम योग के सर्वोच्च स्वरूप के मानक को ही अपनायें, जिसकी क्षमता सम्पूर्ण हो, न कि सापेक्ष हो। यह मानक 'सुरत-शब्द योग' में ही उपलब्ध है, जिसे संत-मत (संतों-महापुरुषों का मार्ग) भी कहते हैं, जोकि वास्तव में 'सृष्टि का सिरमौर' या 'अशरफ़-उल-मख़्लूक़ात' ('The Crown of Life') है। इस मत के महापुरुष उचित मार्गदर्शन में इसका अभ्यास करते हुए, उन आंतरिक मंडलों तक पहुँचे हैं, जो अन्य योग-विधाओं की जानकारी में नहीं है और अंततः, परमात्मा के परिपूर्ण निराकार व अनामी स्वरूप में लीन हुए हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने बारम्बार इस शब्द योग की अतुलनीय श्रेष्ठता को स्वीकारा है तथा अपने अनुभवों के आधार पर अन्य योग-विधाओं के प्रत्यक्ष आंतरिक आध्यात्मिक पहुँच की चर्चा करते हुए 'सुरत-शब्द योग' की परिपूर्ण प्रकृति का विस्तृत वर्णन किया है।

जिज्ञासु यदि एक बार अन्य योग-विधाओं के साथ संत-मत के तुलनात्मक अध्ययन के विषय को समझना प्रारम्भ कर सके, तो मुझे

विश्वास है कि उसके लिये यह कठिन विषय धीरे-धीरे आसान स्पष्टतर होता चला जायेगा। वह देखेगा कि रूहानी विद्याओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ करने पर अधिकांश लोगों को जिन विरोधाभासों का सामना करना पड़ता है, उनका कारण रूहानी अनुभव नहीं हैं, बल्कि ऐसा सापेक्षिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने के परिणामस्वरूप होता है। यह भ्रम उनके लिये विद्यमान नहीं रहता, जिन्होंने उच्चतम मार्ग का अनुसरण करके सभी आंतरिक रूहानी मंडलों निजी अनुभव कर लिया है तथा यह जान लिया है कि विभिन्न योग-विधाओं में से प्रत्येक हमें किस हद तक ले जा सकती है। अध्यात्म के विषय को वह फिर यह सोचकर टालना नहीं चाहेगा कि यह महज़ एक पुरातन अंध-विश्वास तथा काला-जादू है, अपितु वह इसे एक काल की सीमा से अतीत आंतरिक विज्ञान की भांति जानना प्रारम्भ कर देगा, जिसके अपने अपरिवर्तनशील नियम एवं विभिन्न तरीक़े हैं; जिसका ज्ञान गतिहीन नहीं है, बल्कि जिसका विकास मनुष्य के निचले से उच्चतर योगों की ओर आगे बढ़ने के साथ-साथ हुआ है। इन सबसे बढ़कर, मुझे उम्मीद है कि वह यह समझ सकेगा कि उस परिपूर्ण परमात्मा में जीवात्मा का लीन होना केवल कोई दिवास्वप्न या एकत्ववाद दर्शन की काल्पनिक मान्यता भर ही नहीं है, बल्कि एक ऐसी जीती-जागती संभावना है, जिसका अनुभव-साक्षात्कार ही मानव जीवन का सच्चा अंतिम ध्येय है जिसकी प्राप्ति सही मार्गदर्शन, सही विधि एवं सही प्रयास के द्वारा, प्रत्येक इन्सान की पहुँच के भीतर है- चाहे वह किसी भी उम्र, लिंग, जाति या धर्म का हो।

- कृपाल सिंह

सावन-आश्रम, दिल्ली

6 *जून*,1961

विषय-सूची

प्रथम भाग

यौगिक पद्धतियाँ

द्वितीय भाग

सुरत-शब्द योग का अध्ययन

तालिकाएँ

द्वितीय भाग

सुरत-शब्द योग

पंचम अध्याय

सुरत–शब्द योग

(दिव्य-नादधारा का योग)

इस *अध्ययन के पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार अनादि काल से ही भारतीय ऋषि-मुनि यह सिखाते आ रहे हैं कि दैनिक अस्तित्व में जैसा कि हम अनुभव करते हैं, इस जीवात्मा की, जो दुख से बचना चाहती है, और सुख की इच्छा रखती है तथा देश एवं काल के प्रभाव से क्षण-प्रतिक्षण परिवर्तनशील बनी रहती है, पृष्ठभूमि में एक शाश्वत 'आत्मा' है। यह आत्मा ही मूलभूत सत्य का आधार है, अंतिम तत्व है, सारों का भी सारांश है, तथा इसके अस्तित्व के प्रकार में ही अन्य सभी कुछ का अस्तित्व सार्थक होता है। इसी प्रकार, हमने यह भी देखा कि भारतीय दृष्टाओं ने ब्रह्मांड के स्वभाव का किस प्रकार से विश्लेषण किया है। सतही तौर पर देखने से हमारी दुनिया परस्पर विरोधी तत्वों की मिली-जुली अजीब संरचना प्रतीत होती है। इन विरोधाभासों से जूझते हुए, मानव एक ऐसे सृष्टिकर्ता की खोज करने को विवश हो जाता है, जो इस परिवर्तनशील अस्तित्व की पृष्ठभूमि के परे निरन्तरता का प्रतिनिधित्व करता है तथा इन परस्पर विरोधी शक्तियों को संतुलन में रखता है। परन्तु, वह ज्यों-ज्यों अधिक गहराई में प्रवेश करता है, वही पाता है कि यह विरोधाभास केवल आभासी हैं, वास्तविक नहीं हैं– विरोधी होने के बजाय, वे एक ही सत्ता की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं, और यदि असल में देखें, तो ये सही अर्थ में 'अभिव्यक्तियाँ' भी न होकर, अज्ञानी मन की मात्र भ्रान्तियाँ ही हैं, जोकि ज्ञान की ज्योति में तिरोहित हो जाती हैं, जब व्यक्ति यह जानना प्रारम्भ कर देता है कि समुद्र परिवर्तित होता दिखाई देते हुए भी अपरिवर्तनशील ही है।*

भारतीय चिन्तन के लिये, ये दो मूलभूत अंतर्दृष्टियाँ हैं और निकट से अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि यह पृथक् नहीं हैं, बल्कि एक ही हैं। आत्मा, जो अपनी परिशुद्ध अवस्था है, के परिपूर्ण स्वभाव को पह.

चानने का अर्थ है, परमात्मा अर्थात् ब्रह्म के सच्चे स्वभाव को पहचानना, और परमात्मा या ब्रह्म के स्वभाव को समझने का अर्थ है, निज-आत्मा को समझना। यदि परिवर्तनशील, समयाधीन निजात्म के पीछे, एक अमर, अपरिवर्तित और कालातीत सत्ता है और यदि सृष्टि की परिवर्तनशीलता के प्रवाह के पीछे– जैसा कि हम प्राय: समझते हैं, एक परिपूर्ण, अपरिवर्तनशील सत्य है, तो ये दोनों आपस में सम्बंधित ही होने चाहिएँ और वास्तव में एक समान ही होने चाहिएं। भला दो परिपूर्ण शक्तियाँ कैसे हो सकती हैं? आत्मा ब्रह्म से प्रथक् कैसे हो सकती है, जबकि जो कुछ भी है, वह सभी ब्रह्म का ही प्रक्षेपण है?

जैसे ही हम निजात्मा और परमात्मा की प्रकृति के विषय में, इन सच्चाइयों, अथवा सत्य की एकात्मता के स्वभाव को समझ पाते हैं, तो एक समस्या हमारे सामने उपस्थित होती है कि प्रतिदिन के अस्तित्व में हम संसार को द्वैत तथा अनेकत्व के रूप में क्यों देखते हैं? अपने आप को हम एक दूसरे से तथा समेकित जीवनधारा से पृथक् क्यों अनुभव करते हैं और वह साधन क्या हो सकता है, जिससे हम इस अनावश्यक बन्धन को पार कर चेतनता के उस महासागर में विलीन हो सकें, जो हमारा मूल स्वरूप है? इस प्रश्न के पहले भाग का उत्तर यह रहा है कि आत्मा अपने अधोमुखी उतार में, मन-माया के आवरणों में घिर जाती है, जो आत्मा को सीमाओं में बंधकर जीवन का अनुभव करने पर बाध्य कर देते हैं। वास्तविक स्वरूप को भूल कर, आत्मा अपने आप को देश-काल की सीमाओं– नाम-रूप प्रपंच में बंधी हुई अनुभव करने लगती है। प्रश्न के दूसरे भाग का उत्तर यह रहा है कि आत्मा अपने आप का दृष्टा स्वयं हो सकती है, यदि यह अपने आपको सीमाओं-विशेषणों से अलग कर सके। विभिन्न प्रकार के योग, जिनका हमने परीक्षण किया है, आत्मा को इन सभी बन्धनों से मुक्त या अन्तर्मुखी कराने की प्रक्रिया के लिए विकसित की गई विधियाँ ही हैं।

सभी महान ऋषियों एवं सत्गुरुओं की शिक्षाओं में एक सर्वनिष्ठ बात यह है कि उनकी अन्तर्दृष्टि परम्परागत शिक्षा, दार्शनिक संकल्पनाओं या तार्किक विश्लेषण पर आधारित नहीं है, बल्कि वह तो निजी आन्तरिक अनुभव पर आधारित हैं। 'अनुभव' एक ऐसा शब्द है, जिसकी अभिव्यक्ति की स्पष्टता का अनुवाद नहीं किया जा सकता है। उनकी शिक्षाओं में

अन्तर किसी अंतर्निहित भेदभाव या विरोधाभास के कारण नहीं हैं, प्रत्युत इसलिये हैं कि मनुष्य स्वभाव में अलग-अलग हैं– जो एक सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए सम्भव है, वह एक असंस्कृत किसान के लिये सम्भव नहीं है, और इसी प्रकार इसके विपरीत भी।

विभिन्न नदियाँ अलग-अलग मैदानों से होकर गुज़रती हैं, परन्तु वे सभी समुद्र में पहुँचती हैं। आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनेक उपलब्ध मार्गों को एक क्रमबद्ध प्रणाली के रूप में प्रतिदिन करने की दिशा में पतंजलि का 'अष्टांग-योग' प्रथम प्रमुख प्रयास है। और उनके बाद आये ऋषियों-शिक्षकों ने उनसे काफ़ी मार्गदर्शन प्राप्त किया है, परन्तु उनकी शिक्षाएँ निर्विवाद रूप से यह मान्य करती हैं कि उनकी साधना पद्धति इतनी कठिन है कि वह साधारण मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति से वंचित करने की प्रवृत्ति रखती हैं। इसके अलावा वह इतनी जटिल है कि अधिकतर साधकों के लिये वह एक भूलभुलैया बन जाती है और वे बीच की पड़ावों को ही अपना अंतिम लक्ष्य मान बैठते हैं। इसी तरह से, जबकि हम मंत्र-योग, लय-योग, हठ-योग, और विशेषतः राज-योग, पातंजलि मुनि की परम्परा का परिष्कृत रूपों से निरूपण करते हैं, इसके तीन अन्य मुख्य प्रकार प्रकट होते हैं, जो अष्टांग मार्ग के विपरीत, इसको अत्यन्त सरल एवं विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करते हैं। ज्ञान-योगी, कर्म-योगी या भक्त को संसार में विरक्त होने की या मानसिक और शारीरिक अभ्यासों में पारंगत होने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से प्रत्येक, एक विशेष दृष्टिकोण से लक्ष्य की ओर बढ़ता है तथा मात्र प्रयोजनबद्ध केन्द्रीकरण से उस तक पहुँचता है।

जैसा आदि शंकराचार्य ने स्पष्ट किया है, कि सभी योगों का लक्ष्य ब्रह्म में विलीन होना है। इसलिये योग के सभी मार्ग समाधि को ही लक्ष्य बनाते हैं, जिसमें इस अवस्था में इसका अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु, यदि महर्षि पातंजलि की साधना प्रणाली और उसकी परम्परागत शाखाओं में कुछ गम्भीर ख़ामियाँ हैं, तो प्रश्न यह है कि क्या अन्य तीन मुख्य प्रकारों में वैसी कोई भी कमी नहीं है? यदि कर्मयोगी के लिये विराग और इच्छारहित होने से मुक्ति मिलती है, तो क्या उसके लिये पूर्णतयाः से मुक्त होना सम्भव है? अपने पथ का अनुसरण करते हुए क्या वह मुक्ति की कामना नहीं करता, और क्या यह स्वयं ही एक प्रकार की इच्छा नहीं

है? इसके अतिरिक्त, क्या यह मनोवैज्ञानिक तौर पर मनुष्य के मन के लिये सम्भव है कि वह पहले किसी उच्चतर अवस्था में स्थापित हुए बिना ही अपने सामान्य अनुभव के क्षेत्र से अनासक्त हो जाये? मानव का यह सार्वभौमिक गुण है कि वह अपने से प्रथक् किसी अन्य से सम्बंध स्थापित करना चाहता है। यही उसके जीवन का नियम है, और उसकी सभी महान उपलब्धियों का स्रोत भी है। एक बच्चा अपने खिलौनों से बंधा रहता है, और वयस्क अपने कुटुंब तथा समाज से। जब तक बच्चा बड़ा होकर उन्हें मनोवैज्ञानिक रूप से स्वयं छोड़ न दे, आप बच्चे को उसके खिलौनों से, बिना उसको नुकसान पहुँचाये, अलग नहीं कर सकते। वैसे ही, साधक को जब तक कि वह मनोवैज्ञानिक रूप से उनसे प्रथक् न हो जाये और उसके पास कोई उच्चतर और महत्तर लक्ष्य न हो, तब तक उसे अपने समाज और कुटुम्ब के बंधनों से अलग करना, उसके जीवन की जड़ों को काटने समान है। इससे उन्नति नहीं, बल्कि अवनति ही होगी, क्योंकि जो मानव उस अनुशासन को अपने ऊपर लादा हुआ मानता है, उसकी प्राकृतिक इच्छायें मात्र कुंठित हो जाती हैं। इसका परिणाम चेतना का विकास नहीं, बल्कि उसकी संवेदनशून्यता एवं क्षीणता, उदासीनता न कि वैराग, होता है। टी. एस. इलियट के अनुसार यह दोनों, 'राग' व 'वैराग' से पूर्णतया भिन्न है, उनके समान जैसे,

मौत भी जीवन जैसी लगती है,
क्योंकि यह दो जीवनों के बीच का समय है,
जैसे कि फूल आने से पहले कली आती है,
ज़िंदगी और मौत के बीच, बिच्छू-बूटी।

– टी.एस. इलियट [Thomas Stearns Eliot- 'Little Gidding']

कर्म-योग का अनुशासन आवश्यक है। परन्तु, यदि इसे अपना लक्ष्य प्राप्त करना है, तो इसे एक दूसरे गुह्य अनुशासन द्वारा सम्पूर्ण होना होगा, जिसके बिना कर्म-योग से उन्नति कर पाने का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा– ऐसा ही, जैसे कोई अपने जूतों के फ़ीतों के सहारे अपने आपको ऊपर उठाने का प्रयत्न करे।

इसी तरह, ज्ञान-योगी को ज्ञान काफ़ी ऊपर उठा सकता है। वह उसे स्थूल मंडल से उठाकर आत्मिक मंडल में ले जा सकता है। परन्तु, क्या

ज्ञान उसे अपने से आगे कहीं ले जा सकता है? और यदि, जैसाकि हमने देखा है, ज्ञान आत्मा पर चढ़ी कोषों में से एक की, यद्यपि अति सूक्ष्म सी, रचना करता है, यह भला कैसे आत्मा को पूर्ण मुक्ति दे सकता है? ज्ञान यद्यपि सहायक है, पर यही एक बाधा भी है। निस्सन्देह यह इतनी प्रबल शक्ति है कि यह आत्मा को उन सभी बंधनों से छुड़ा सकता है, जो इससे अधिक स्थूल हैं, परन्तु इस बिन्दु तक आकर, यह स्वयं उसका आगे का रास्ता बंद कर सकता है, क्योंकि यह स्वयं उस तत्व से निर्मित नहीं है, जिससे वह आत्मा है, जो परिपूर्ण है, इसलिए यह सम्पूर्णरूप से काल अथवा समय की सीमा से ऊपर नहीं हो सकता।

संतों ने समय के दो भेद बताये हैं : काल तथा महाकाल। इनमें से पहले की सीमा तो स्थूल मंडल तथा कम स्थूल मंडलों तक, जो ठीक इसके ऊपर के हैं, फैली है। दूसरे का विस्तार उन उच्चतर मंडलों तक है, जो आत्मिक नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञानी की उपलब्धियाँ हमारे द्वारा अनुभव किए गये समय की सीमा से ऊपर तो हो सकती हैं, परन्तु महाकाल की सीमा से परे नहीं। यह बताने की आवश्यकता शायद ही हो कि ज्ञान-योग के बारे में जो कुछ सत्य है, वही योग के उन सभी प्रकारों के बारे में भी सत्य है, जो प्राणिक ऊर्जा पर निर्भर करते हैं। वे भी आत्मा की सच्ची प्रकृति व स्वभाव वाले नहीं हैं और इसलिए वे 'इसे' सापेक्षता की परिधि से आगे परिपूर्ण विशुद्धता की अवस्था तक नहीं ले जा सकते।

पूर्ण मुक्ति दिला सकने में असमर्थ होने के अलावा ज्ञान-योग ऐसा मार्ग भी नहीं है, जो सर्व-साधारण को सरलता से प्राप्त हो सके। इसके लिये असाधारण बौद्धिक शक्तिसामर्थ्य और सहनशक्ति की आवश्यकता है, जो बहुत ही कम मनुष्यों के पास होती है। इस कठिनाई का समाधान करने के लिये तथा कर्मयोग के मार्ग में, इसका अकेले में अभ्यास करने पर भी जो कठिनाइयाँ सामने आईं, उनका निराकरण करने के लिये भक्ति-योग उभर कर सामने आया। ऐसा व्यक्ति, जो सामान्यरूप से स्वयं को संसार से विरक्त नहीं कर सकता, और न ही जिसके पास ऐसी मानसिक शक्तियाँ हैं, जो आत्मा के सच्चे स्वरूप को असत् से पृथक् कर सके, वह प्रेम की शक्ति से छलांग लगाकर या पार कर गंतव्य तक पहुँच सकता है। परन्तु, जिसका न तो कोई रूप है और न आकार है, उसे मानव कैसे प्रेम कर

सकता है?। इसलिये भक्त स्वयं को किसी ऐसे इष्ट-देवता के प्रेम में आश्रय ले लेता है, जोकि परमात्मा की कोई निश्चित अभिव्यक्ति हो। परन्तु, इस व्यावहारिक कठिनाई को पार करने की प्रक्रिया में ज्ञानी की भाँति ही वह स्वयं को उसी सीमा में बाँध लेता है। व्यक्ति का अपना चुना हुआ इष्ट-देव भी अपनी प्रकृति के कारण अनामी और अरूप परिपूर्ण प्रभु के ऊपर एक सीमा का प्रतिनिधित्व करता है। और यदि भक्त उस इष्ट के स्तर तक पहुँच भी जाये, तो भी क्या वह सीमित इष्ट उस भक्त को अपने आप की सीमा से आगे ले जा सकता है और उस तक पहुँचा सकता है, जो सीमारहित है?। इस प्रणाली के जो प्रसिद्ध अभ्यासी महापुरुष हुए, उनकी जीवनियों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मध्यकाल के प्रसिद्ध महापुरुष रामानुज, अपने पूर्वाचार्य, आदि शंकर की शिक्षाओं को समझने में असफल ही रहे। वे उस प्रणाली का अनुसरण करते रहे, जिसे भारतीय दर्शन में 'विशिष्ट द्वैत' कहा जाता है– जिसके अनुसार आत्मा सृष्टि के अभिव्यक्त रचयिता के रूप में ईश्वर तक पहुँच सकती है और ब्रह्मांडीय चेतना में मिल सकती है, परन्तु यह ईश्वर में मिलकर एकाकार कभी नहीं हो सकती। तो फिर अव्यक्त, अनामी ब्रह्म में पहुँचने की तो बात ही क्या! हमारे अपने समय में श्रीरामकृष्ण परमहंस के अनुभव ने एक बार पुनः यही प्रश्न उपस्थित किया है। वे सदैव माता काली के उपासक थे और वह उन्हें प्रायः दर्शन भी देती थीं। परन्तु, वह उन्हें सदा ही अपने से अलग कोई बाहरी शक्ति समझते थे– ऐसी शक्ति, जो उन्हें केवल माध्यम के रूप में प्रयोग करती थी, परन्तु जिसमें वह तल्लीन होकर समा नहीं सकते थे। बाद में जब वे एक अद्वैतवादी महात्मा, संन्यासी तोतापुरी जी से मिले, तो उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें अपनी वर्तमान अवस्था से आगे बढ़कर उस अवस्था तक पहुँचना चाहिए, जिसमें नाम और रूप हो ही नहीं, और जिसमें जाकर आत्मा व परमात्मा मिलकर एक हो जाये। परन्तु, जब उन्होंने ऐसी अवस्था को पाने का प्रयत्न किया, तो उन्हें प्रतीत हुआ कि उनकी पूर्व साधना की उपलब्धियाँ, उनके सभी प्रयत्नों के बावजूद, उनके मार्ग मे बाधा बन कर खड़ी हो गई है। वे बतलाते हैं :

मैं नाम और रूप के परिधिमंडल, को पार नहीं कर सका और अपने मन को निरपेक्ष स्थिति में नहीं ला सका।

मुझे अपने मन को सभी पदार्थों से खींचकर वापिस ले जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई, सिवाय इसके कि आगे जाकर आनन्दपूर्णा माँ काली का चिर-परिचित स्वरूप- ज्योतिर्मय एवं विशुद्ध चैतन्य का साररूप- जो जीवित वास्तविकता के रूप में मेरे सामने आ खड़ा होता था, और मुझे नाम-रूप मंडल से आगे जाने नहीं देता था। मैंने बारंबार अपने मन को अद्वैत की शिक्षाओं में लगाने का प्रयत्न किया, किन्तु प्रत्येक बार माँ का स्वरूप ही मेरे समक्ष आ खड़ा होता था। निराश होकर मैंने उस दिगंबर (नग्न) महात्मा सत्गुरु तोतापुरी जी महाराज से कहा, "यह तो निराशापूर्ण है। मैं अपने मन को निर्विकल्प अवस्था तक नहीं उठा सकता और आत्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं कर सकता।" वे उत्तेजित हो गए और कड़क कर बोले, "क्या! तुम ऐसा नहीं कर सकते? परन्तु, तुम्हें यह करना ही पड़ेगा।" उन्होंने आस-पास कुछ उठाने के लिए दृष्टि घुमाई और एक शीशे का टुकड़ा उठाकर उसे मेरी दोनों भौंवों के मध्यस्थान पर गढ़ा दिया और बोले, "अपने मन को इस स्थान पर केन्द्रित करो।" दृढ़ निश्चय के साथ मैं पुनः ध्यान में बैठ गया और ज्यों ही दिव्य माँ की कृपामयी मूर्ति मेरे सामने आई, मैंने अपने विवेक का तलवार की तरह प्रयोग किया और इसके द्वारा उस को दो भागों मे विभक्त कर दिया। इसके बाद मेरे मन के रास्ते में कोई रुकावट नहीं रही, जिसके बाद एकदम मेरी आत्मा इस सापेक्षिक मंडल से ऊपर उठ गई और मैं समाधि में खो गया।

– रामकृष्ण की उक्तियाँ (माइलापुर, चेण्णै 1954, पृ॰313)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्त आत्मिक रूप से काफ़ी आगे तक जा सकता है, अपनी चेतना का काफ़ी विकास कर सकता है, चमत्कारिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है और उच्चतर प्रेम में तल्लीन होकर वह इस संसार के प्रेम से ऊपर उठ सकता है, फिर भी उसके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह 'नाम और रूप' के मंडल से ऊपर उठ सके और सापेक्षिकता से आगे जो सके। वह इष्ट में तथा उसके आश्चर्यजनक गुणों-विशेषणों के ध्यान मे खोया रह सकता है, किन्तु वह उसकी निर्गुण व अनामी अवस्था में अनुभव नहीं कर सकता। वह स्वयं को ब्रह्मांडीय चेतना से सम्पूर्ण होने

का अनुभव कर सकता है, परन्तु यह उसके पास यह एक बाहरी वस्तु के रूप में, कृपा के उपहार के रूप में आती है और वह उसमें अपने आप को लीन नहीं कर सकता और अस्तित्व के समुद्र में मिलकर एकमेक नहीं हो सकता। यदि वह उस अवस्था को पाना भी चाहता है, तो उसकी भक्ति की साधना ही, उसे आगे बढ़ने में सहायता करने के बजाये, उसके रास्ते में रुकावट बनकर उसे आगे बढ़ने से रोक देती है।

महर्षि पंतजलि के बाद विकसित हुए योग के लोकप्रिय प्रकारों का परीक्षण करने से दो बातें उभर कर सामने आती हैं : पहली, तो यह कि बिना प्राणों के कठोर संयम के भी, ऊर्जाशक्ति को केन्द्रित कर सकने के साधन की प्राप्ति होने पर, आत्मा शारीरिक चेतना से ऊपर उठ सकती है और दूसरी बात, यह कि पूर्ण आत्मिक अनुभव या सच्ची समाधि शारीरिक चेतना के ऊपर उठने मात्र से ही प्राप्त नहीं होती है (यद्यपि यह प्रारम्भिक सोपान के रूप में यह अनिवार्य है), परन्तु यह एक जटिल आतंरिक यात्रा का अंतिम सोपान है, जिसके बीच में प्राप्ति की कई अंतर्मध्यीय अवस्थाएँ आती हैं, जिनकी उपलब्धि, कुछ निश्चित परिस्थितियों में, ग़लती से अंतिम लक्ष्य के रूप में समझी जा सकती है, और इस प्रकार आगे की उन्नति को रोक सकती है। एक सच्चे जिज्ञासु के सामने इस अवस्था में जो समस्या उपस्थित होती है, वह यह है कि वह प्राण, ज्ञान और किसी इष्टदेव की भक्ति की अपेक्षा कोई अन्य साधन खोजे, जो न केवल उसकी चेतनता की धारा को वर्तमान शारीरिक बन्धन से छुड़ा दे, बल्कि उसकी आत्मा को बिना किसी रुकावट के ऊपर की ओर खींचते हुए एक आत्मिक मंडल से दूसरे मंडल में तब तक ले जाये, जब तक कि वह नाम व रूप के सभी सापेक्षिक मंडलों से ऊपर उठकर, काल व महाकाल के दायरे को पार करके अपने उस लक्ष्य पर न पहुँचे, जहाँ पहुँचकर वह उस नाम व आकृतिरहित परम् तत्व से एकमेक हो जाए।

शब्द-धारा

यह इसी समस्या के संदर्भ में है कि 'सुरत-शब्द योग' अथवा 'ब्रह्म-नाद योग' अपनी अद्वितीय महत्ता धारण कर लेता है। जिन्होंने इस योग में निपुणता प्राप्त की है, वे बताते हैं कि परम् सत्ता, अपने प्रारम्भिक स्वरूप में सभी विशेषणों व कलाओं से परे होते हुए भी, जब अपने आप को

अभिव्यक्त करती है, तो वह दो प्रमुख गुण धारण करती है– 'ज्योति' और 'श्रुति'। यह केवल संयोग की बात नहीं है कि सभी मुख्य धर्मों के दिव्य ज्ञान सम्बंधी साहित्य में 'वर्ड' अथवा 'शब्द' के अनेक संदर्भ उनकी शिक्षाओं में केन्द्रीय स्थान रखते हैं। सुसमाचार (गोस्पेल्ज़) में हमें मिलता है :

आदि में शब्द था, शब्द प्रभु के साथ था और शब्द ही प्रभु था।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 1:1)

प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों में हम बारंबार 'ॐ' (ओ३म्) के बारे में पढ़ते हैं, जोकि भूः, भुवः और स्वः अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण– तीनों मंडलों में व्याप्त दिव्य शब्द है। पुनश्चः, गुरु नानक देव कहते हैं :

सारी सृष्टि शब्द कै पाछै। नानक शब्दु घटै घटि आछै।।
शब्दै धरती शब्दु अकाशु। शब्दै शब्दु होआ प्रगासु।।

– प्राण संगली, भाग 2 (पृ॰17)

एको सबदु एको प्रभु वरतै सभ एकसु ते उतपति चलै ।।

– आदि ग्रंथ (प्रभाती म॰3, पृ॰1334)

मुस्लिम सूफ़ी संत कहते हैं :

आलम अ़ज सौते-ईं .जुहूर गरिफ्त,
अ़ज ह़जूरश बिसाते-नूर गरिफ्त।

– दीवाने–नियाज़ बरेलवी (पृ.91)

(सृष्टि सौत अर्थात् शब्द ध्वनि या वर्ड से उत्पन्न हुई और उससे ही सम्पूर्ण प्रकाश का उदय हुआ।)

इस्मे-आ़जम जामा-ए-असमा बुवद, सूरते-ऊ मआनीऐ-अशया बुवद।
इस्म दरिया ओ तईय्युन मौजे-ऊ, ईं कसे दानद किह् ऊ अ़ज मा बुवद।

– अब्दुर् रज़्ज़ाक कासी

(महान नाम सभी नामों व रूपों का जीवन व सार है, इसका अभिव्यक्त रूप सृष्टि का संवहन करती है। यह महासमुद्र है, जिसकी हम लहरें मात्र हैं। वह जिसने हमारे अनुशासन का पहला किया है, केवल वही इसका अनुभव कर सकता है।)

मूसा ने 'प्रभु के आदेशों' को गर्जन और ज्योति की लपटों के बीच में सुना था, जबकि ज़रुतुश्तुवाद और ताओवाद में भी इस संदर्भों की

व्याख्या 'सृजनकारी वाक्', 'दिव्य ज्योति' और 'शब्दरहित शब्द' अर्थात् मूक शब्द के रूप में है।

कुछेक विद्वान पंडितों एवं ब्रह्मज्ञानियों ने, अपने सीमित अनुभव के कारण, इन वर्णनों को अन्तर्जनित या बौद्धिक प्रकाश के प्रतीकात्मक संदर्भों के रूप में परिभाषित किया है। किन्तु, क़रीबी परीक्षण के उपरान्त उन्हें अतर्कसंगत ही माना जायेगा। यूनानियों (ग्रीक), यहूदियों (हीब्रू) व यूरोपियनों द्वारा प्रयुक्त शब्द, 'वर्ड' ('Word') या 'लोगोस' ('Logos') को विकृत करके उनका अर्थ भले ही 'तर्क' या 'आदेश' मान लिया जाये और 'ज्योति' को मानसिक सर्जन से अधिक और कुछ नहीं समझा जाये, परन्तु अन्य धर्मों में उनके समानर्थक शब्द- जैसे नाद, उद्गीथ, आकाश-वाणी, शब्द, नाम, सौत, बांगे-इलाही, निदाए-आसमानी, स्रोशा, ताओ, और ज्योति, प्रकाश, तजल्ली, नूर-ए-यज़दानी आदि उनके मूल आध्यात्मिक अर्थ के उपहास की गुंजाइश नहीं रखते। इससे अधिक, कुछ दृष्टाओं ने इनके संदर्भों को इस प्रकार वर्णित किया है कि उसमें टालमटोल या शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता, कि जो असली विषय वस्तु है, वह केवल साधारण मानसिक अनुभव का आलंकारिक वर्णन मात्र नहीं, बल्कि वह तो देहाभास से परे एक आंतरिक अनुभव है। इस प्रकार, सेंट जॉन के रहस्योद्घाटन में हम पाते हैं :

उसकी आँखें, आग की लपटों के समान थीं, उसकी आवाज़ जैसे बहुत से झरनों की ध्वनि हो, उसकी आभा ऐसी थी, मा'नो सूर्य अपने पूरे तेज के साथ निकल आया हो।

और मैंने एक आवाज़ सुनी जैसे कि बहुत से झरनों की आवाज़ हो, और जैसे कि किसी महागर्जन की ध्वनि हो, और अनेक वाद्ययंत्रों से निकलती हुई आवाज़ सुनी।

– पवित्र बाइबिल (रहस्योद्घाटन 1:14-16)

उपनिषदों में उल्लेख इस प्रकार है :

आदौ जलधिजीवीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा।

– नादबिंदु उपनिषद् (34)

(पहले पहल मिलीजुली आवाज़ें– नागरी, झरना, भेरी, मेघ तथा समुद्र जैसी सुनाई पड़ती हैं। फिर स्पष्ट होने पर भ्रमर, वीणा, वंशी तथा किंङ्किणों की तरह मधुर होती है।)

हज़रत मुहम्मद ने ब्रह्मांडीय संगीत सुना, जिसने धीरे-धीरे जिब्राइल की शक्ल अख़्तियार कर लिया और फिर यह शब्दों में बदल गई, जबकि बाहा-उ'ल्लाह कहते हैं :

> **हज़ारों रहस्यपूर्ण जिह्वाएँ एक ही वाणी में अभिव्यक्ति पाती हैं और उसके हज़ारों गुप्त रहस्य एक ही मधुर राग में अनुगुंजित हैं। परन्तु अफ़सोस कि कोई कान ऐसा नहीं, जो उसे सुनता हो और उसे कोई हृदय ऐसा नहीं, जो उसे समझता हो।**
>
> **अपनी आँखों को बंद कर लो, फिर तुम मेरी सुदरता को देख सकोगे, अपने कानों को बंद कर लो, तब तुम मेरी आवाज के मीठे रागों को सुन सकोगे।**

– बाहा–उ'ल्लाह, गुप्त शब्द (फ़ारसी 16)

'सुरत-शब्द योग' के सत्गुरुजन कहते हैं कि ज्योति और ध्वनि के ये संदर्भ रूपक मात्र नहीं है, प्रत्युत अक्षरशः हैं। ये संदर्भ बाह्य सांसारिक ज्योति और ध्वनि के बारे में नहीं हैं, अपितु आतंरिक पराशक्ति के बारे में हैं। वे बताते हैं कि यह पराध्वनि और पराज्योति परमात्मा की वे पहली अभिव्यक्तियाँ हैं, जब उसने अपने आप को सृष्टिकर्म में प्रवृत्त किया था। अपनी अनाम अवस्था में, वह न तो ज्योति है न अंधकार, न ध्वनि है, न मौन, परन्तु जब वह नाम-रूप धारण करता है, तो उसके प्राथमिक विशेषणों के रूप में 'ज्योति' एवं 'श्रुति' उत्पन्न होते हैं।

यह आत्मिक शक्ति वर्ड (शब्द), नाम, कलमा अर्थात् क्रियारूप में प्रभुसत्ता ही उन सभी के लिए उतरदायी है, जो कुछ भी अस्तित्व में है और जिस स्थूल विश्व को हम जानते हैं, केवल वे ही उसके द्वारा निर्मित सृष्टि नहीं हैं। उसने इस स्थूल विश्व के ऊपर अनेक मंडलों एवं अनेक सृष्टियों की रचना की है। वास्तव में, सम्पूर्ण रचना एक अथाह एवं असीम व्यवस्था है, जिसमें सकारात्मक ध्रुव (सचखंड या सतलोक) एक विशुद्ध आत्मिक मंडल है, जबकि नकारात्मक ध्रुव (पिंड) स्थूल भौतिक पदार्थ

से बना है, जिससे हम इस संसार में चिरपरिचित हैं। बीच में अनगिनत मंडल हैं और जिन्होंने उनकी एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा की है, वे उन्हें उनके सकारात्मक– आत्मिक एवं नकारात्मक– भौतिक शक्तियों के सन्तुलन के अनुसार तीन मंडलों में विभक्त करते हैं।

महापुरुष सिखाते हैं कि एक सतत् व्यापक सिद्धांत, जो विशुद्ध आत्मिक मंडल से लेकर स्थूल भौतिक मंडल तक सभी मंडलों को आपस में जोड़ता है, वह है, 'ज्वलित-ध्वनि' या 'ध्वनित-ज्योति'। वर्ड या शब्द जैसे-जैसे निचले मंडलों पर उतरता है, यह विभिन्न घनत्व की आत्मिक– भौतिक शक्ति धारण करता जाता है। दृष्टाओं ने बैंगनी ज्योति तथा मध्यान्ह या सूर्यास्त के सूर्य की ज्योति तथा बाँसुरी, बीन, शंख, गर्जन, घंटी, झरनों आदि के समान ध्वनियों की चर्चा की है, परन्तु विभिन्न स्तरों पर भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त होने के बावजूद, 'शब्द' स्वयं में स्थिर बना रहता है।

यह उसी प्रकार से है, जैसे बर्फ़ से ढकी पहाड़ की चोटी से उतरने के बाद, नदी समुद्र में मिलने तक अनेक प्रकार के बदलाव से गुज़रती है– जैसे पृष्ठभूमि के, आकार के, गति के और स्वरूप के, परन्तु इसका जल वही रहता है।

यदि कोई इस श्रवणीय जीवनधारा को अपने अन्तर में खोज ले और इसके निचले पड़ावों को जान ले, तो वह इस रास्ते का प्रयोग इसके स्रोत तक पहुँचने के लिये कर सकता है। यह धारा, सम्भव है, कुछ बिंदुओं पर जाकर किन्हीं घाटियों और द्रुतगामी धाराओं में पड़ जाये, परन्तु ऊपरिगामी आत्मिक यात्रा के लिये यह एक सुनिश्चित रास्ता है। कोई भी पहाड़ कितना ही दुर्गम क्यों न हो, परन्तु नदी की धारा उसमें से रास्ता बना ही लेती है और जो कोई भी उसके मार्गदर्शन में रहेगा, उसे रास्ता पाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। चूँकि 'नाम', 'वर्ड' या 'शब्द' की यह धारा, अनाम या अशब्द में से प्रकट होती है, इसलिए जो भी इसे दृढ़ता से पकड़े रहेगा, वह निश्चित ही अनेक घनत्वों वाले मंडलों को एक के बाद एक पार करते हुए, अंत में नाम और रूप के आदि स्रोत पर पहुँच जाएगा और इस प्रकार वह उसमें अभेद हो जाएगा, जिसका न तो कोई नाम है और न ही कोई रूप।

आधारशिलाएँ

शब्द-धारा, निस्सन्देह, मनुष्य के लिये साकार से निराकार तक पहुँचने के लिये सबसे निश्चित मार्ग उपलब्ध कराता है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य उस तक पहुँचे कैसे और अपनी आंतरिक यात्रा पूरी करे? इस मार्ग के जानकार महापुरुष बताते हैं कि सभी प्रकार के योगों में इस सर्वाधिक सच्चे योग के रास्ते पर सफलता प्राप्त करने के लिए तीन बातों का होना नितान्त आवश्यक है :

(1) सत्गुरु :

पहली शर्त यह है कि किसी ऐसे सत्गुरु अथवा सच्चे गुरु को पाया जाये, जो इस आत्म-विद्या अथवा परा-विद्या का पूर्ण अनुभवी ज्ञाता हो। यह विषय व्यवाहिरक आत्म-साक्षात्कार पाने का है, न कि केवल दार्शनिक शोध या अंतर्जनित भावनाओं का। यदि यह केवल सिद्धांत की बात होती, तो उपलब्ध धर्मग्रंथ आदि हमारे लिए पर्याप्त होते और यदि भावनाओं का तो प्रत्येक व्यक्ति अपने मन की भावनाओं पर ही यक़ीन कर लेता। परन्तु हमारे सामने प्रश्न है, 'छठी' इंद्रिय के खुलवाने का, इन्द्रियातीत प्रत्यक्ष अनुभव पाने का, आंतरिक श्रवण और दर्शन का। जो व्यक्ति अंधा और बहरा पैदा होता है, वह ब्रेल लिपि की सहायता से मनुष्य के देखने और सुनने के विविध अनुभवों का विस्तृत अध्ययन कर सकता है, परन्तु, उसका अध्ययन उसे कभी प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान नहीं कर सकता। इन पुस्तकों से वह अधिक से अधिक यह जान सकता है कि अनुभवों का एक विस्तृत दायरा है, जो पूर्णतया: उसकी पहुँच से परे है और इससे उसके अन्दर एक इच्छा पैदा हो सकती है कि वह ऐसे साधन खोजे, जिससे वह अपनी शारीरिक सीमाओं को पार कर सके। यह कोई अनुभवी शल्यचिकित्सक या डॉक्टर ही हो सकता है, जो उसकी बीमारी का निदान कर सके, बशर्ते कि उसकी बीमारी साध्य हो; और यदि वह किसी नीमहक़ीम के पास पहुँच गया, तो ही उसकी हालत पहले से भी ज़्यादा ख़राब और पेचीदा ही हो जायेगी।

इसी प्रकार, जो व्यक्ति आंतरिक, आध्यात्मिक निपुणता हासिल करना चाहता है, उसे उस अनुभवी गुरु की सहायता खोजनी चाहिए, जिसने उस रास्ते पर पहले ही निपुणता हासिल कर ली हो। यदि वह मूल प्रश्न

के प्रति गम्भीर है, तो उसका तमाम धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन, उसका चिन्तन-मनन, उसे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचायेगी और वह है– एक जीवित सत्गुरु की आवश्यकता। ऐसे सत्गुरु के बिना वह मार्गदर्शक धर्मग्रंथों का सही आशय भी नहीं समझ सकता। वे धर्मग्रंथ उस अनुभव की बात करते हैं, जो उसके अनुभव स्तर से परे हैं। उसकी अपनी भाषा में भी वे धर्मग्रन्थ केवल रूपकों व दृष्टांतों में ही बात करते हैं, क्योंकि अंधों की भाषा का प्रयोग दृश्य जगत का प्रत्यक्ष वर्णन करने के लिये भला कैसे किया जा सकता है? हमारे धार्मिक साहित्य में निहित समृद्ध आत्मिक विरासत को पूर्णतया: अपने सीमित अनुभवों के आधार पर समझने का प्रयत्न करना, हमें उसके वास्तविक अर्थ से दूर भी ले जा सकता है। हम उससे ढेर सारा मनोवैज्ञानिक ज्ञान एकत्र कर सकते हैं, परन्तु उसका आन्तरिक महत्व हमसे लुप्त हो जाएगा और हमारी सारी बौद्धिक सिद्धांतक्रियाएँ हमें केवल एक अन्तहीन धर्मवैज्ञानिक विरोधाभासों में पहुँचा देंगी, जिनसे आज अनेक संस्थागत धर्म बोझिल हो गए हैं।

केवल वही अनुभवी महापुरुष, जिसने स्वयं उसका अनुभव किया है, जिसका कि धर्मग्रंथ वर्णन करते हैं, हमें उसके वास्तविक अर्थ तक पहुँचा सकते हैं। परन्तु, एक आध्यात्मिक सत्गुरु का काम यहीं समाप्त नहीं हो जाता। धर्म के सच्चे अर्थ को प्रकट करना, मात्र पहले क़दम से अधिक कुछ नहीं। जिज्ञासु ने यदि अपने लक्ष्य की प्रकृति को जान लिया है, तो उसे इस पर व्यावहारिक तथा बुद्धिसंगत तौर पर पर अमल करना चाहिए। जानना एक बात है, और उसे करना बिल्कुल ही दूसरी। जब सत्गुरु जिज्ञासु को परम् लक्ष्य के बारे में बता चुका होता है, उसके बाद ही सत्गुरु का वास्तविक कार्य प्रारम्भ होता है। अंधे आदमी की अंधता के बारे में कारण ढूँढकर बताना ही डॉक्टर के लिए पर्याप्त नहीं, उसे उसकी शल्यचिकित्सा भी करनी चाहिए, ताकि उसकी बीमारी ठीक हो सके। इसी प्रकार, आध्यात्मिक मार्गदर्शक भी दीक्षा के समय शिष्य को आंतरिक ज्योति और श्रुति का प्रथमानुभव प्रदान करता है। वह साधक को दिव्य-धारा से जोड़ देता है– भले ही निम्नतर स्तर पर ही क्यों न हो और शिष्य को साधना के लिए हिदायत देता है, ताकि वह इस आंतरिक अनुभव का उसकी पूर्णता तक विकास और प्रवर्धित करे।

जिस किसी को ऐसा गुरु मिल जाये, वह वास्तव में सौभाग्यशाली है। परन्तु, ऐसा गुरु ढूँढ़कर, उससे दीक्षित होना ही पर्याप्त नहीं है। जो प्रारंभिक आत्मिक अनुभव वह देता है, उसको आध्यात्मिक दिव्यता की पूर्णता तक पोषित और विकसित करना परमावश्यक है। ऐसा कर पाने के लिये, व्यक्ति जो कुछ सीखता है, उसे स्वीकार करना चाहिए और उसे व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। ऐसे महापुरुष को जानना उनसे प्रेम करना है, और उनसे प्रेम करना उनकी आज्ञा का पालन करना है। जब तक व्यक्ति प्रेम करके और आज्ञा पालन करके अपने जीवन को परिवर्तित न कर ले, तब तक गुरु का दिया हुआ यह उपहार किसी लोहे की तिजोरी में बंद बीज की तरह ही रह जाती है, जहाँ पर वह उग नहीं सकता और फलित नहीं हो सकता।

(2) सदाचार

इस प्रणाली में आत्म संयम की आवश्यकता सदाचार को द्वितीय नींव के पत्थर का स्थान प्रदान करती है। 'सदाचार' शब्द का अनुवाद करना आसान नहीं। इसके कई शाब्दिक पर्याय मिल सकते हैं, परन्तु उनमें से कोई भी इसके व्यापक और बहु-आयामी महत्त्व को वर्णित नहीं कर पाता है। संक्षेप में, सदाचार का तात्पर्य अच्छे और शुद्ध जीवन से है। इसका अभिप्राय किसी कोई कठोर आचारसंहिता या निर्धारित नैतिक नियम से नहीं है। परन्तु, यह ऐसी सादग़ी और पवित्रता को इंगित करता है, जो अन्दर से प्रकाशित होकर बाहर की ओर फैलते हैं और प्रत्येक कर्म, प्रत्येक शब्द, और प्रत्येक विचार में परिलक्षित होते हैं। यह जितना व्यक्तिगत आदतों, अच्छाइयों और स्वच्छता से संबंधित है, उतना ही यह उसके निजी व सामाजिक नैतिकता से भी जुड़ा हुआ है। अपने नैतिक पक्ष में, यह किसी व्यक्ति का न केवल उसके परिजनों के साथ ही, अपितु प्राणीमात्र के साथ सद्व्यवहार से संबंधित है अर्थात् इसका तात्पर्य उस एकत्व से है, जो उस जानकारी से आती है कि सभी एक ही सारतत्व से निर्मित हैं और एक तुच्छ कीट भी ब्रह्म का उतना ही अंश है, जितना कि देवताओं के राजा इंद्र।

एक सच्चे सत्गुरु द्वारा जो पहला पाठ सिखाया जाता है, वह उस परम् तत्व की एकता के बारे में है और जिस किसी ने इस सत्य को ग्रहण कर

लिया, वह अपने जीवन को उसके अनुसार अनुशासित करेगा। वह अनुचित इच्छाओं का शिकार नहीं होगा, और उसका एकमात्र उद्देश्य स्थिरता के उस मुक़ाम पर पहुँचना होगा, जो अपने आप में सभी कर्मों को समाहित करे रखता है और जहाँ पर पहुँचकर अपने पास कुछ भी नहीं होना ही सब कुछ पा जाने के समान हो जाता है। व्यक्ति यह जान जाता है कि सम्पूर्ण संतुष्टि का एकमात्र मार्ग त्याग से होकर गुज़रता है, और सर्वशक्तिमान परमात्मा तक पहुँचने का एकमात्र रास्ता स्वयं को अन्य सभी मोह-बंधनों से स्वतंत्र करना है :

यदि प्रत्येक वस्तु में आनन्द पाना है, तो किसी भी पदार्थ में सुख की इच्छा मत रखो। सब कुछ पाना चाहते हो, तो कुछ भी अपने पास रखने की इच्छा मत करो। यदि सब कुछ बनने की इच्छा है, तो कुछ भी बनने की इच्छा मत करो। और, यदि सब कुछ जानना चाहते हो, तो कुछ भी जानने की इच्छा मत करो।

– सेंट जॉन ऑफ़ दि क्रॉस [Ascent of Mount Carmel, Bk.1, Ch.13, Section 11]

दिल का हुजरा साफ़ कर जानां के आने के लिये।।
ध्यान ग़ैरों का हटा उसको बिठाने के लिये।।

– तुलसी साहिब

जहाँ अन्य कुछ भी नहीं है, वहाँ परमात्मा है।

– डब्ल्यू. बी. यीट्स [William Butler Yeats- Collected Short Stories]

कामना (काम) के राक्षस से मुक्त होकर, कोपरूपी राक्षस (क्रोध) से छुटकारा मिल जाएगा, जो कामना के पूर्ण न होने पर उत्पन्न होता है। इनसे छूटने पर व्यक्ति लोभ, मोह और अहंकार से भी छुटकारा पा जायेगा, क्योंकि ये भी इच्छा से ही उत्पन्न होते हैं।

ऐसे व्यक्ति का जीवन वैराग्य का अथवा निष्काम हो जाएगा। परन्तु, यह वैराग्य उसके लिये उदासीनता का या समर्पित त्याग का नहीं होगा। समग्र जीवन को जानना, अपने और शेष सृष्टि के बीच एक नये रिश्ते को खोजना है। जो इसे जानता है, वह केवल उदासीन नहीं रह सकता। वह तो अपने संपर्क में आने वाले सभी के प्रति सहानुभूति से भर जाएगा, और सम्पूर्णता के प्रति इस सहानुभूति में अंश-विशेष के प्रति कुछ पुनीत

उदासीनता भी सम्मिलित होगी। अब वह अपने क्षुद्र-व्यक्तिगत स्वार्थों से ही बंधा नहीं रहेगा, बल्कि अपना प्रेम और अपने संसाधनों को सभी में बाँटेगा। शनैः शनैः, पर निश्चित रूप से, उसके भीतर सभी के लिये महात्मा बुद्ध जैसी करुणा तथा ईसा मसीह जैसा प्रेम विकसित होगा। वह संसार को त्याग कर, अब किसी वन, पहाड़ या गुफा के एकांत में जाकर नहीं रहना चाहेगा। वैराग्य तो व्यक्ति के भीतर होना चाहिए, और जो व्यक्ति उसे घर पर रहकर प्राप्त नहीं कर सकता, वह उसे जंगल में जाकर भी नहीं पा सकेगा। सांसारिक व्यवहारों और चिंताओं से कभी-कभी हटकर अलग रहने के लाभ का उसे पता लगेगा, जिससे वह एकांत की शांति में बैठकर ध्यानाभ्यास कर सके, परन्तु वह जीवन और उसके प्रति ज़िम्मेदारियों से पलायन करना नहीं चाहेगा। वह एक प्रेममय पति और एक अच्छा पिता होगा, परन्तु ऐसा होकर भी वह जीवन के अंतिम उद्देश्य को नहीं भूलेगा। यह ज्ञान उसे सदा रहेगा कि जो कुछ उसके देश की सत्ता का है, उसे देश की सत्ता को कैसे देना है, और जो कुछ प्रभु का है, उसे प्रभु के लिए कैसे बचाकर रखना है। वह यह जानेगा कि इच्छाओं को पार करने का मार्ग उन्हें दबाकर नहीं, बल्कि उनका सामना करके उन पर विजय पाने के द्वारा तय होता है। 'सन्यास' संसार से बाहरी तौर पर पृथक् होना या उससे भागना नहीं, अपितु आंतरिक स्वतंत्रता है, जिस विचार को गुरु नानक देव जी महाराज ने इस प्रकार व्यक्त किया है :

मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहि बिभूति॥
खिंथा कालु कुआरी काइआ जुगति डंडा परतीति॥
आई पंथी सगल जमाती मनि जीतै जगु जीतु॥
आदेसु तिसै आदेसु॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 28, पृ॰6)

ऐसे व्यक्ति के भीतर दान व पवित्रता के गुण विकसित होंगे। उसका हृदय विशाल और उदार होगा। वह अपनी कठिनाइयों की अपेक्षा वह औरों के दुखों का अधिक ध्यान रखेगा, और जो उसे हानि या कष्ट पहुँचाते होंगे, उन्हें भी वह सहज क्षमा कर देगा। अपनी आदतों में वह साधारण और नियंत्रित होगा। उसकी आवश्यकताएँ बहुत ही कम और आसानी से

पूर्ण होने वाली होंगी, क्योंकि जिसकी बहुत सी कामनाएँ हों और अनेक लगाव हों, वह हृदय से पवित्र नहीं हो सकता। उसके लिए पवित्रता के मायने माँस और मद्य त्यागने तक भी होंगे। जब सारे संसार का जीवन एक ही है, तो फिर दूसरों के माँस पर जीवित रहना तो स्वयं को अपवित्र करना ही होगा। और जब किसी व्यक्ति का लक्ष्य चेतनता के उच्चतर मंडलों को पाना हो, तो अचेतन करने वाले तथा नशीले पदार्थों का प्रयोग करना स्वयं को पतन की ओर ले जाना होगा। यह भारतीय संतों महर्षियों का केवल वैचारिक विशिष्टता मात्र नहीं है कि उन्होंने मद्य-माँस का त्याग आत्मिक अनुशासन का एक अनिवार्य अंग बनाया है। पवित्र बाइबिल और कुरान में भी ऐसे आदेश मिलते हैं।

पवित्र बाइबिल के अनुसार,

माँस खाना, शराब पीना, अथवा कोई अन्य नशा करना, जिनसे कि तुम्हारा भाई पतित होकर गिरे, या नाराज़ या क्रोधित हो अथवा कमज़ोर हो– ऐसे सभी काम अच्छे नहीं होते, अतः त्याज्य हैं।

– पवित्र बाइबिल (रोमियों 14:21)

पेट भरने के लिये माँस और माँस के लिये पेट–परमात्मा इन दोनों को नष्ट कर देगा। यह शरीर विषय वासना के लिये नहीं, बल्कि प्रभु को पाने के लिये है और इसी तरह से परमात्मा भी इस शरीर के लिये है।

– पवित्र बाइबिल (कुरिन्थियों 6:13)

इस्सीन गौस्पेल ऑफ़ जॉन नामक ग्रंथ में, जिसमें ईसा मसीह के मूल पवित्र वचनों का अनुवाद सीधा अरामेइक भाषा से किया गया है, लिखा गया है :

उन्होंने उसे उत्तर दिया, "हम कहाँ जाये, प्रभु?...क्योंकि आप के ही पास अमर जीवन के शब्द हैं। हमें बतालायें, कौन से ऐसे पापकर्म हैं, जिन्हें हम त्यागें, ताकि हम किसी बीमारी से बचे रहें।"

ईशु ने उत्तर दिया, "आपके विश्वास के अनुसार ही ऐसा हो," और वह उनके बीच में यह कहते हुए बैठ गये :

पुराने समयों में इनके बारे में कहा गया था, "अपने स्वर्गीय पिता और धरती माँ का आदर करो, उनके आदेशों का पालन करो, ताकि पृथ्वी पर आपके दिन लंबें हों, आप दीर्घायु हो।" और उसके बाद, यह आदेश दिया गया : "तुम किसी की हिंसा नहीं करोगे," क्योंकि सभी प्रकार का जीवन प्रभु का दिया हुआ है, और जो कुछ प्रभु ने दिया है, उसे मनुष्य नहीं छीने, क्योंकि मैं तुम्हें सत्य बतलाता हूँ कि धरती पर सारा जीवन एक ही माँ से उत्पन्न हुआ है। अतः जो कोई किसी को मारता है, वह अपने भाई को ही मारता है, और उससे उसकी माता अपना मुँह मोड़ लेगी और अपने जीवनदायी स्तन से उसे हटा देगी। उसके फ़रिश्ते उसे त्याग देंगे और उसके शरीर में शैतान वास करेगा। उसके शरीर में मारे गये पशुओं का माँस उसकी अपनी ही क़ब्रगाह बन जायेगा। मैं तुम्हें सच बतालाता हूँ कि जो कोई किसी को मारता है, वह अपने आप को ही मारता है, और जो कोई भी मारे हुए जीवों का माँस खाता है, वह मृत्यु के शरीर को ही खाता है। उनकी मृत्यु उसकी अपनी ही मृत्यु बन जायेगी, क्योंकि पाप की मजूदरी मौत ही है। अतः, न तो किसी की हत्या करो और न ही अपने निदोर्ष शिकार का माँस खाओ, अन्यथा तुम शैतान के दास हो जाओगे, क्योंकि यह कष्टों भरा रास्ता है और मौत की ओर ले जाता है। प्रभु की इच्छा पर चलो, ताकि उसके फ़रिश्ते जीवन के मार्ग पर तुम्हारी सेवा करें। इसीलिये प्रभु के इन शब्दों का पालन करो : "देखो! मैंने तुम्हें बीज देने वाली प्रत्येक वनस्पति दी है, जो धरती पर उगती है, और प्रत्येक वह वृक्ष दिया है, जिस पर फल लगते हैं, जो बीज देते हैं, ताकि तुम्हारे लिये वे सभी भोज्य बन सकें यानी माँस के स्थान पर आप उन का प्रयोग कर सकें। इसी प्रकार संसार में प्रत्येक चौपाये को, आकाश के प्रत्येक पक्षी को, धरती में रेंगने वाले सभी कीड़ों मकोड़ों को यानी उन सभी के लिये जो साँस लेते हैं, हरी वनस्पतियाँ भोजन के लिये देता हूँ।" और जो जीव चलते-फिरते हैं, उनका दूध तुम्हारा पेय भोजन होगा। जैसे मैंने अन्य जीवों के लिए हरी वनस्पतियाँ दी हैं, वैसे ही मैंने तुम्हारे लिए उनका दूध दिया

है। परन्तु, माँस और रक्त, जो उन्हें जीवित रखता है, तुम उसका भक्षण कभी भूल कर भी मत करना।

ईशु ने आगे कहा :

प्रभु ने तुम्हारे पूर्वजों को आज्ञा दी थी कि तुम किसी को भी जान से नहीं मारोगे। परन्तु, उनके दिल पत्थर के हो गये और उन्होंने हत्या की। तब हज़रत मूसा ने इच्छा व्यक्त की- कि कम से कम पशुओं को मारने के बदले वे मानवों को नहीं मारेंगे। पर तब तुम्हारे पूर्वजों के दिल और कठोर हो गये और उन्होंने मानवों और पशुओं को सामान रूप से मारा। परन्तु मैं तुम्हें कहता हूँ, न मानव और न ही पशुओं को मारो और न ही उस भोजन को मारो, जो तुम्हारे मुँह में जाता है, क्योंकि जीवंत भोजन तुम्हें जीवंत करेगा। परन्तु, यदि तुम अपने भोजन को मारोगे, तो वह भोजन तुम्हें भी मार देगा, क्योंकि जीवन केवल जीवन से ही आता है और मौत से हमेशा मौत ही आती है। प्रत्येक वह वस्तु, जो तुम्हारे भोजन को मारती है, वह तुम्हारे शरीरों को भी मारती है। और वह प्रत्येक वस्तु, जो तुम्हारे शरीरों को मारती है, वह तुम्हारी आत्माओं को भी मार देती है। जैसा कुछ आप खाते हैं, वैसा ही आपका शरीर बनता है। इसी तरह से जैसे आप के विचार हैं, वैसे ही आप की आत्मा बनती है।

भोजन और पेय पदार्थों में पवित्रता के साथ ही साथ एक दूसरे किस्म की पवित्रता भी साथ-साथ चलती है; और वह है, काम-वासना सम्बंधी पवित्रता। व्यक्ति को कामवासना की इच्छा को पूरी तरह से दबाना नहीं चाहिए, क्योंकि दबाने का अर्थ है, स्नायुसम्बंधी रोग उत्पन्न करना और पतन के लिये राह तैयार करना, बल्कि वह इसे परिष्कृत करना चाहेगा। वह यह समझेगा कि इस प्रवृत्ति के पीछे प्रकृति का उद्देश्य यह है कि इसके उचित प्रयोग द्वारा मानव जाति की निरन्तरता क़ायम रखी जाए और वह इसका प्रयोग केवल इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए करेगा— वह इसे अपने आप में एक अंतप्राप्य वस्तु समझकर शारीरिक आनन्द भोगने की वस्तु नहीं समझेगा, क्योंकि यदि इसे इसका प्रयोग इस तरह किया जाये, तो यह एक ऐसी औषधि के समान हो जाती है, जो आत्मा को बेहोश करती है और गर्भ.

निरोधक गोलियों, दवाइयों तथा अन्य साधनों के बढ़ते अण्वेषण व प्रयोग से को से प्रकृति के असली उद्देश्य को ही असफल करती है।

संक्षेप में, एक ईमानदार और सचेत जिज्ञासु को अपने सम्पूर्ण जीवन को ही– जैसे खाने-पीने में, सोचने में, कार्य करने और अनुभव करने आदि में– एक नये साँचे में ढाल लेगा। वह धीरे-धीरे अपने मन में से सभी व्यर्थ के और अस्वास्थ्यकर इच्छाओं को निकाल कर तब तक बाहर फेंकता रहेगा, जब तक कि वह शनैः शनैः पवित्रता और सादग़ी की ऐसी अवस्था धारण न कर ले, जैसी एक शिशु की होती है।

> **निश्चयपूर्वक मैं तुम्हें बताता हूँ कि जब तक तुम अपने आप में परिवर्तन न कर लो और बच्चे के समान भोले और छोटे बन कर न रहो, तब तक तुम प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश नहीं पा सकते।**
>
> – पवित्र बाइबिल (मत्ती 18:3)

संसार के सभी धर्म-गुरुओं ने उच्चतर नैतिक मूल्यों पर बहुत ही ज़्यादा ज़ोर दिया है और ये नैतिक मूल्य ही वास्तव में उनकी शिक्षाओं का मूलाधार है। एक सत्गुरु दैनिक डायरी (दैनन्दिनी) रखने पर सदा ही बल देता है, ताकि प्रतिदिन के मन, वचन और कर्म द्वारा किए गये ग़लत कामों का लेखा-जोखा रखा जा सके। यह लेखा-जोखा अहिंसा, सत्य, पवित्रता, विश्व प्रेम, तथा सभी की निस्स्वार्थ सेवा जैसे पाँच प्रमुख सद्गुणों, जो अध्यात्म के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं, के बारे में हो। अपनी ग़लतियों के ज्ञान से ही, हम उन दोषों का उन्मूलन कर सकेंगे और सही दिशा में अग्रसर होने का प्रयत्न कर सकेंगे।

पुनरेकीकरण की इस पूरी प्रक्रिया के दौरान उसकी प्रेरणा, उसके सत्गुरु का उदाहरण और उनके द्वारा दिये गये आंतरिक अनुभव होंगे। उसके सत्गुरु का जीवन उसके लिए एक ऐसा सजीव प्रमाण होगा, जो उसे सदाचार के आदर्श के प्रति प्रोत्साहित करेगा, और वह अपने अन्दर 'शब्द' का अनुभव उसके सत्गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा की सत्यता का प्रमाण देगा। सदाचार कोई शुष्क अनुशासन नहीं है, जिसे कुछ निश्चित नियमों के पालन से प्राप्त किया जाता हो। यह जीवन का एक रास्ता है, और इस प्रकार के मामलों में केवल दिल की दिल से ही बात हो सकती है।

यही बात है, जो सत्संग यानी सत्गुरु के साथ संगत करने को इतना महत्वपूर्ण बनाती है। जिज्ञासु के सामने जो लक्ष्य है, यह केवल लगातार उसी का स्मरण ही नहीं कराता, बल्कि व्यक्तिगत संपर्क के जादुई स्पर्श से धीरे-धीरे उसकी तमाम चिंतनधारा और भावना को ही परिवर्तित कर देता है। इस कल्याणकारी प्रभाव से जैसे-जैसे उसका हृदय व मन पवित्र होते जाते हैं, उसका जीवन अधिक से अधिक दिव्यता में केन्द्रित होता जाता है। संक्षेप में, जैसे-जैसे वह व्यवहार में सदाचार के आदर्श का अनुभव करने लगता है, उसके बिखरे हुए एवं क्षीण विचार धीरे-धीरे स्थिर और एकाग्र होने लगते हैं और वे एक सूक्ष्म बिन्दु पर इतने केन्द्रित हो जाते हैं कि अंधकार के सभी आवरण जलकर राख हो जाते हैं और आंतरिक दिव्यता प्रकट हो जाती है।

(3) साधना

अब हम आध्यात्मिक भवन के तीसरे स्तम्भ के बारे में विचार करते है, जोकि आध्यात्मिक साधना या अनुशासन का है। एक पूर्ण गुरु की शिक्षा का सार यह है कि अच्छा जीवन, जोकि अत्यंत वांछनीय एवं अनिवार्य है, परन्तु स्वयं में अंतिम लक्ष्य नहीं है। जीवन का लक्ष्य तो कुछ और ही है, जोकि आंतरिक है, और इससे भिन्न है। सापेक्षिकता एवं अस्तित्व के धरातल से ऊपर उठकर परिपूर्ण अस्तित्व को पाना ही जीवन का लक्ष्य है। जो इसे पहचान लेता है, वह अपने जीवन को उस ही के अनुसार ढालता है, क्योंकि प्रथमतः, इसको पहचान लने का तात्पर्य है, मन की एक ऐसी अवस्था, जिसमें वह अहंकार एवं मोह से मुक्त होकर नेकता और रचनात्मक रूप से क्रियाशील हो जाता है और द्वितीयतः, मन को ऐसी अवस्था में ढाले बिना और जीवन को इस तरह से परिवर्तित किए बिना कोई भी व्यक्ति आंतरिक उत्थान के लिए आवश्यक स्थिरता और एकाग्रता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिये एक प्रबुद्ध सत्गुरु हमेशा मुख्य रूप से अनुभवातीत लक्ष्य पर बल देता है। वह यह सिखाता है कि प्राणिक और वैज्ञानिक ऊर्जाएँ आत्मा के तत्व की नहीं है, प्रत्युत वे तो विशुद्ध आत्मिक मंडलों से निम्न स्तर के मंडलों से उत्पन्न होती हैं। उन्हें जो सीढ़ी के तौर पर प्रयोग करता है, वह

शारीरिक चेतना से ऊपर उठ सकता है और उन मंडलों तक पहुँच सकता है, जिनमें वे उत्पन्न होते है, परन्तु उससे आगे नहीं जा सकता। क्योंकि सभी में बसी हुई आत्मा एक समान है, इसलिए आत्मिक साक्षात्कार का साधन भी सबके लिए सुलभ होना चाहिए। परन्तु, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, ऐसे योग जो प्राण और ज्ञान पर आधारित हैं, उनके लिये विशेष यत्न चाहिएँ, जिन्हें सभी नहीं कर सकते। प्राणिक साधन तो बूढ़े और बच्चों की पहुँच से बाहर हैं और उनकी पहुँच से भी बाहर हैं, जिन्हें कोई साँस सम्बंधी अथवा पाचनतंत्र सम्बंधी रोग हैं। ज्ञान-मार्ग के लिए मानिसक और बौद्धिक योग्यता की आवश्यकता होती है, जिसे प्रकृति बहुत ही कम लोगों को प्रदान करती है। यदि हमारे लिए ये साधन प्रकृति की ओर से उपलब्ध कराए गए होते, तो इसका तार्किक परिणाम यही होता कि प्रकृति अपने वरदानों में बहुत ही पक्षपात करती है, और मानव-मानव में भेद रखती है। सूर्य सभी के लिये चमकता है और हवा सभी के लिये बहती है। तो फिर, आंतरिक ख़ज़ानों की प्राप्ति केवल कुछ चुनिंदा लोगों के लिए ही क्यों सम्भव रहे? वे तो शिक्षित और अशिक्षित सभी के लिए हैं।

जो योग अपने साधकों के चयन में इतने भेदभावपूर्ण हैं और अपने अभ्यास में इतने कठोर हैं, वे पूर्णतया: प्राकृतिक नहीं हो सकते। 'सुरत-शब्द योग' के सत्गुरुओं द्वारा सिखायी जाने वाली विधि उनसे भिन्न है। जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, इसमें जिज्ञासु को सृष्टि की प्रकृति और जीवन के प्रारंभिक स्रोत तक वापिस जाने के मार्ग के बारे में समझाया जाता है। दीक्षा के समय उसे व्यक्तिगत आंतरिक अनुभव प्रदान किया जाता है, जिसे उसे अभ्यास द्वारा विकसित करने की शिक्षा दी जाती है। आत्मा का केन्द्र-स्थल दोनों भौहों के बीच में और पीछे की ओर स्थित है। सभी योगों में इस बात को स्वीकृत किया गया है। परा-विद्या के ज्ञाता इसे शिव-नेत्र, दिव्य चक्षु, तीसरा तिल, ब्रह्म-रंध्र, त्रियंबक, त्रिलोचन, नुक़्ता-ए-सवेदा, कोहे-तूर, Third Eye (तीसरी आँख), Single Eye (एकल नेत्र), प्रतीकात्मक रूप से जिसे स्थिर बिन्दु अथवा Mount of Transfiguration (आकृति-परिवर्तन की चोटी) आदि कहते हैं। यही वे केन्द्र है, जिस पर साधक आँखें बंद करके ध्यान को केन्द्रित करते हैं। परन्तु, ध्यान को एकाग्र करने के लिए प्रयासरहित प्रयास करना चाहिए और इसमें किसी प्रकार का शारीरिक या

मानसिक तनाव नहीं होना चाहिए। इस प्रयास में सहायतार्थ सत्गुरु द्वारा शिष्य को एक मंत्र भी दिया जाता है, जिसमें सत्गुरु की तवज्जोह होती है और जो अग्रिम यात्रा का प्रतीक होता है। जब प्रेम से, धीरे-धीरे इस फ़ॉर्मूले को विचार की जिह्वा द्वारा दोहराया जाता है, तो साधक को अपने बिखरे हुए विचारों को एक केन्द्रबिन्दु पर इकट्ठा करने में मदद मिलती है। इस मंत्र में जो दिव्य-शक्ति भरी हुई है, वह किसी जादू-टोने से उन शब्दों अथवा अक्षरों में कोई शक्ति है, पर यह इस कारण है कि उसको सत्गुरु ने अपने निजी आध्यात्मिक साधना के द्वारा उसे आंतरिक शक्ति से भर दिया होता है। जब जिज्ञासु अपने आंतरिक ध्यान द्वारा और दिव्य-शक्ति सम्पन्न मंत्र के शब्दों के मानसिक उच्चारण और लगातार आवृत्ति करने के द्वारा, अपनी आंतरिक टकटकी को एक केन्द्रबिन्दु पर तीव्रता से स्थिर कर लेता है, तो उसे पहले से ही दिखता हुआ अंधकार धीरे-धीरे हटना शुरू हो जाता है और फिर वहाँ धीरे-धीरे टिमटिमाती रोशनी के बिन्दु दिखाई देने लगते हैं। जैसे-जैसे उसकी एकाग्रता बढ़ती जाती है, ज्योति झलकना बंद कर एक चमकते हुए स्थिर बिन्दु में विकसित हो जाती हैं।

संकेन्द्रन की प्रक्रिया अथवा सुरत को इकट्ठा करने के इस तरीक़े से सुरत (आत्मा) की धाराएँ, जो प्रायः पूरे शरीर में फैली होती हैं, आत्मिक केन्द्र की तरफ़ स्वतः ही खिंचने लगती हैं। सुरत की निकासी की इस प्रक्रिया में 'सुमिरन' अर्थात् दिव्य-शक्ति सम्पन्न मंत्र के मानसिक जाप से काफ़ी अधिक मदद मिलती है, और आंतरिक ज्योति के संकेन्द्रन की ओर अग्रसर करके, यह प्रक्रिया अधिक गतिशील हो जाती है। और जब ध्यान पूरी तरह से विकसित हो जाता है, तो यह 'भजन' अर्थात् आंतरिक श्रवण की ओर अग्रसर होता है। आंतरिक ज्योति गुंजारित होने लगती है :

अंतरि जोति निरंतरि बाणी साचे साहिब सिउ लिव लाई।।

– आदि ग्रंथ (सिरी राग म.1, पृ.634)

अभ्यासी जब अपने स्थूल (शारीरिक) कानों को बंद करता है, तो संगीत में तेज़ी से तल्लीन हो जाता है। यह एक सामान्य अनुभव है कि हालाँकि ज्योति आँख को पकड़ तो सकती है, परन्तु उसे बहुत देर पकड़े नहीं रख सकती, क्योंकि इसमें अधिक चुम्बकीय गुण नहीं है। परन्तु, संगीत के साथ बात कुछ और ही है। जो उसे शांत स्थिति में होकर सुनता है, वह बरबस उसके द्वारा इस प्रकार खिंच जाता है, मा'नो किसी दूसरी

दुनिया में चला गया हो, अनुभव के किसी भिन्न स्तर तक। अतः, सुरत की धारा का जो खिंचाव सुमिरन (नाम-जप) से शुरू हो कर, ध्यान द्वारा विकसित होता है, वह भजन (नाद-श्रवण) से तेज़ी से आगे बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे चलती हुई सुरत की धाराएँ ऊपर उठती जाती हैं और अन्तर में आत्मा के निवास स्थल सत्गुरु तीसरी आँख पर आकर संकेन्द्रित हो जाती हैं। इस प्रकार, भौतिक देहाभास से ऊपर उठने अर्थात् जीते-जी मरने की प्रक्रिया, न्यूनतम प्रयास एवं कठिनाई से सफल हो जाती है।

अन्य प्रकार के योगों के अभ्यासी साधक, जब बहुत लम्बे समय के अभ्यास के पश्चात निचले चक्रों पर आधिपत्य पाकर जब ऊपर की ओर बढ़ते हैं और स्थूल शरीर को पार करने की इस अवस्था तक पहुँचते हैं, तब वे प्रायः यही समझते हैं कि वे अपनी आत्मिक यात्रा के अंतिम लक्ष्य पर जा पहुँचे हैं। वह आंतरिक मंडल, जिस पर वे अपने आप को पाते हैं- जो वास्तव में 'सहस्रार' अथवा 'सहस्त्र-दल-कमल' है, जिसे सूर्य-चक्र, कमल या अनेक पंखुड़ियों वाले गुलाब की उपमा दी जाती है, वह वास्तव में अतुलनीय रूप से पृथ्वी की सभी वस्तुओं से कहीं अधिक सुंदर है, और तुलनात्मक रूप से वह समय की सीमा से परे लगता है। परन्तु, 'सुरत-शब्द योग' का विद्यार्थी अथवा साधक जब स्थूल शरीर से ऊपर आने में सफल हो जाता है, तो वह वहाँ पर बिना खोजे ही अपने सत्गुरु के ज्योतिर्मय स्वरूप को अपना स्वागत करते हुए पाता है। वास्तव में, इसी केन्द्रबिन्दु पर आकर गुरु-शिष्य का वास्तविक सम्बंध स्थापित होता है। इस अवस्था तक तो गुरु प्रायः एक मानवीय अध्यापक जैसा ही मालूम होता है, परन्तु यहाँ आकर वह दिव्य-मार्गदर्शक या गुरुदेव के रूप में दिखने लगता है, जो साधक को आंतरिक मंडलों में राह दिखाता करता है।

गुर के चरण ऊपरि मेरे माथे।।
ता ते दुख मेरे सगले लाथे।।

– आदि ग्रंथ (गउड़ी म॰5, पृ॰187)

पीरे किह् चू दर दिलत नशीनद,
हाले-अज़ल ओ-अबद ब-बीनद।

– हज़रत मुल्ला हुसैन काशिफ़ी, किताब–उल–बैअत (पृ.5)

(जब ध्यान में अन्दर सत्पुरुष प्रकट होते हैं, तो व्यक्ति अनन्तकाल के गुप्त रहस्यों को सामने खुली किताब की तरह से देख लेता है।)

ईसा मसीह ने भी इसी स्वर में कहा :

कुछ भी छिपा हुआ नहीं है, जोकि प्रकट नहीं किया जायेगा अथवा गुप्त नहीं है, जोकि जाना न जाये।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 10:26)

इस दिव्य-मार्गदर्शक के मार्गदर्शन में आत्मा, अपनी आंतरिक प्रसन्नता के पहले धक्के को सहन करना सीखती है और अनुभव करती है कि उसका लक्ष्य अभी भी बहुत दूर है। सत्गुरु के नूरी स्वरूप के साथ-साथ, और जीवनधारा की नादध्वनि द्वारा खिंची जाती हुई आत्मा, एक मंडल से दूसरे उच्चतर मंडल तक तथा एक तल से दूसरे तल तक यात्रा करती हुई, एक कोश के पश्चात् दूसरे कोश को त्यागती हुई, अन्ततः जो कुछ भी इसका अपना आत्मतत्व नहीं है, उस सभी कुछ को पूरी तरह से त्याग देती है। इस प्रकार से, सभी बंधनों से पूरी तरह आज़ाद होकर और परम् पवित्र होकर अंत में उस मंडल में प्रविष्ट होती है, जहाँ यह अनुभव करती है कि यह स्वयं भी उसी तत्व से बनी है, जिससे परमात्मा बना है, सत्गुरु का नूरी स्वरूप एवं आत्मा, अलग-अलग नहीं हैं, अपितु एक ही हैं और अन्य कुछ भी नहीं है, बल्कि चेतनता, प्रेम और अक्षुण्ण आनन्द का एक महासागर है। इस मंडल के वैभव का वर्णन भला कौन कर पायेगा?

शरहे हाल आरिफ़ान दिल ब दिल तवानद गुफ़्त।
इन न शैवेहे क़ासिद ओ इन न हद मक़्तूबस्त॥

– ख़्वाजा हाफ़िज़

(आत्मज्ञानी के आनन्द को केवल आत्मा ही और केवल आत्मा को ही बता सकती है। कोई संदेशवाहक उसे बता नहीं सकता, कोई संदेश उसे समेट नहीं सकता।)

चूँ क़लम दर वस्फ़े इन हालत रसीद।
हम क़लम बेशिकस्त ओ हम काग़ज दरीद॥

– मौलाना रूमी

(जब उस अवस्था चित्रण करने के लिये लेखनी उठाई गई, तो क़लम टुकड़े-टुकड़े हो गई और कागज़ फट गया।)

यात्रा के अंत में पहुँचने पर, जिज्ञासु भी 'शब्द' में लीन हो जाता है और मुक्त-आत्माओं की संगत में जा मिलता है। वह इस मानवीय संसार के अन्य लोगों की तरह जीता रह सकता है, परन्तु उसकी आत्मा सभी सीमाओं से मुक्त हो जाती है और प्रभु के समान ही अनन्त हो जाती है। आवागमन का चक्र अब उसे प्रभावित नहीं कर सकता, उसकी चेतना सभी प्रतिबन्धों से ऊपर हो जाती है। अपने सत्गुरु की ही भाँति, वह भी 'दिव्य योजना का चेतन सहकर्मी' हो चुका होता है। वह अपने लिये कुछ भी नहीं करता, बल्कि प्रभु के नाम पर ही सब कुछ करता है। यदि वास्तव में कोई व्यक्ति निष्कर्म हो कर कर्म के बंधनों से मुक्त हो सकता है, तो यह वही है, क्योंकि आत्मा की स्वतंत्रता का 'शब्द' की शक्ति से बढ़कर कोई अन्य अधिक शक्तिसम्पन्न साधन नहीं हो सकता है।

सो निहकरमी जो सबदु बीचारे ॥

– आदि ग्रंथ (माझ म॰3, पृ॰128)

उसके लिये मुक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो मृत्यु के पश्चात् प्राप्त हो (विदेह मुक्ति)। यह एक ऐसी वस्तु है, जो उसे जीवन में ही प्राप्त है। वह जीवनमुक्त होता है– जैसे पुष्प सुगंधि फैलाता है; उसी प्रकार वह जहाँ भी जाता है, स्वतंत्रता का संदेश प्रसारित करता है।

जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि ॥
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि ॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 1, पृ॰8)

आध्यात्मिक अनुशासन के वास्तविक अभ्यास में 'सुमिरन', 'ध्यान' और 'भजन' पर ज़ोर दिया जाता है। इन में से प्रत्येक आत्मा की जागृति में एक विशेष भूमिका अदा करता है। सत्गुरु दिव्य-शक्ति सम्पन्न शब्दों का मानसिक जाप अथवा सुमिरन देते हैं, जिसकी सहायता से साधक की बिखरी हुई सुरत सिमट कर दोनों भ्रूमध्य के बीच में स्थित आत्मा के स्थिर बिन्दु पर आकर एकत्र हो जाती है, और सुरत की धाराएँ, जोकि सिर से पैर के अंगूठों तक फैली होती हैं, उस बिन्दु पर वापस खिंच जाती हैं, और व्यक्ति शारीरिक चेतना खो देता है। इस प्रक्रिया के सफलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने से ध्यान अथवा संकेन्द्रन की प्राप्ति होती है। 'ध्यान' शब्द संस्कृत

की धातु, 'धी' से बनता है, जिसका अर्थ है– बांधना अथवा पकड़े रखना। आंतरिक आँख के खुल जाने पर जिज्ञासु को अपने भीतर स्वर्गीय ज्योति की टिमटिमाती झलक दिखने लगती है और यह उसके ध्यान को एकाग्र करे रखती है। धीरे-धीरे, उसकी साधना में यह ज्योति स्थिर हो जाती है– यह आत्मा के लिये जहाज़ के लंगर की भाँति कार्य करती है। ध्यान जब सम्पूर्ण हो जाता है, तो वह व्यक्ति को भजन (नाद-श्रवण) तक ले जाता है, जिसमें व्यक्ति उस संगीत से जुड़ जाता है, जो पवित्र-ज्योति के केन्द्र से प्रस्फुटित होती है। इस पवित्र आकर्षक संगीत में अचूक चुंबकीय शक्ति होती है और आत्मा, उसका अनुसरण करती हुई आत्मिक स्रोत तक जा पहुँचती है, जहाँ से वह संगीत प्रकट होता है। इस तरह से तिहरी प्रक्रिया द्वारा आत्मा की मदद की जाती है, ताकि वह जिस्म की इस क़ैद से निकल कर, अपने स्वयं के दिव्य-प्रकाश में स्थिर हो सके और पिता परमात्मा के स्वर्गिक निज-घर की ओर अग्रसर हो सके।

यह सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सतनाम', 'सत्गुरु' और 'सत्संग' से– जोकि वास्तव में कार्यशील गुरु-सत्ता के पर्यायवाची हैं, पोषित होती है। 'सत्‌नाम' करुणा से संचालित परिपूर्ण परमात्मा की ही शक्ति है, और जब यह शरीर धारण करती है, तो यह गुरु का रूप ('शब्द' सदेह) धारण कर लेती है और उसके द्वारा ही यह सत्ता सत्संग के माध्यम से कार्य करती है। सत्संग आंतरिक और बाहरी- दोनों प्रकार का होता है, जोकि उन जीवों का मदद करती है, जो पुनरुत्थान के लिये परिपक्व हैं। यह शक्ति प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतानुसार सभी मंडलों में एक साथ काम करती है– वाणी की शक्ति द्वारा एक मनुष्य रूपी 'देहगुरु' के समान, सभी के सुख-दुख में शामिल होते हुए; अपने सूक्ष्म, नूरी स्वरूप में 'गुरुदेव' के रूप में आंतरिक मार्गदर्शन के द्वारा और अंततः, सत्य के गुरु, 'सत्गुरु' के रूप में।

अन्तर में दो मार्ग हैं : 'ज्योति-मार्ग' तथा 'श्रुति-मार्ग' (दिव्य-ज्योति तथा दिव्य-नाद के रास्ते)। पवित्र-ज्योति आत्मा को अन्तर में खींच कर स्थिर व तल्लीन रखती है और कुछ हद तक आगे ले जाने में नेतृत्व प्रदान करती है। परन्तु, पवित्र-शब्द (अनाहत ध्वनि) आत्मा को ऊपर की ओर खींचती है और रास्ते की विविध कठिनाइयों– जैसे कि अत्यंत चकाचौंध

व भ्रमित कर देने वाली ज्योति अथवा गहन अंधकार आदि, सभी को पार करते हुए, वह उसे एक मंडल से दूसरे मंडल तक ले जाती हुई अंतत: उसके लक्ष्य तक पहुँचा देती है।

एक सम्पूर्ण विज्ञान

इस प्रकार, 'सुरत-शब्द योग' के स्वभाव और कार्यक्षेत्र का संक्षेप में निरीक्षण करने पर भी इसके कुछ अद्वितीय पहलुओं की जानकारी मिलती है। जो व्यक्ति इस योग का अध्ययन योग के अन्य प्रकारों के संदर्भ में करता है, वह यह समझ जाता है कि अन्य योगों के अभ्यासकाल में जो समस्याएँ साधक के सामने आती हैं, इस योग में उन सभी का समाधान पहले से ही मौजूद है। बाहरी क्रिया-कलापों में, यह किसी शुष्क और कठोर अनुशासन पर आधारित नहीं है, जिसका परिणाम अक़्सर मनोवैज्ञानिक प्रतिघात होता है। इसकी मान्यता के अनुसार कुछ अनुशासन तो इसमें भी आवश्यक है, परन्तु साथ में ज़ोर दिया जाता है कि वह आंतरिक आध्यात्मिक अनुभव के द्वारा ही प्रेरित होना चाहिए और जीवन में सहजता से धारण करने योग्य भी होना चाहिए, न कि कठोर संयमवादी या आत्म-नकारात्मक। जिज्ञासु को चाहिए कि वह साम्यावस्था को पाने का प्रयत्न करे और इसके लिए विचारों में और कार्यों में संयम के गुण विकसित करना चाहिए। इस प्रकार वह जो एकात्मता प्राप्त करेगा, वह उसे और अधिक एकाग्रता पाने में सहायक होगी और इस प्रकार उसे उच्चतर आंतरिक अनुभव मिल सकेगा, जिससे उसके बाह्य विचारों और कर्मों पर प्रभाव पड़ेगा। सदाचार आंतरिक साधना से परस्पर संबधित हैं, प्रत्येक एक दूसरे को जीवंत करता और उन्हें सार्थकता प्रदान करता है और एक दूसरे के बिना ये दोनों ही ऐसे हैं, जैसे कोई एक पंख का पक्षी। मन और तन की पवित्रता के बिना आत्मा को सम्पूर्ण एकाग्रता तक भला कैसे ले जाया जा सकता है और दिव्य-प्रभुसत्ता के प्रेम में केन्द्रित हुए बग़ैर, आत्मा सभी मानवीय लगावों और अपूर्णताओं को कैसे पार कर सकती है?

चून तजल्ली कर्द औसाफ़े क़दीम,
पस् बेसोज़द वस्फ़े हादस् रा क़लीम।

– मौलाना रूमी

(इस शरीर में कलीमुल्लाह अर्थात् हज़रत मूसा भी छिपे हुए हैं, जो भय से परिचित हैं और नेक और बद से बचे हुए हैं।)

सदाचार के कठिन आदर्श को व्यवहार में लाने के लिये 'सुरत-शब्द योग' केवल साधन ही प्रस्तुत नहीं करता, अपितु यह एक ऐसी जीवनप्रणाली को भी प्रस्तुत करता है, जिसके द्वारा साधक इस भौतिक संसार से ऊपर उठ ही नहीं जाता, बल्कि 'नाम' और 'रूप' के दासत्व से भी मुक्त हो जाता है। इस मार्ग के सत्गुरु जानते हैं कि परिपूर्ण पराशक्ति के निर्गुण पक्ष की कोरी अमूर्त संकल्पना मात्र द्वारा उसे नहीं पाया जा सकता। नाम और रूप से बंधे मानव को नाम-रूप से परे प्रभु तक भला सीधे ही कैसे पहुँचाया जा सकता है? प्रेम को कुछ ऐसा सहारा चाहिए, जिससे वह जुड़ सके और उसका अनुभव कर सके। प्रभु को भी यदि मनुष्य से मिलना है, तो उसे भी कोई रूप या आकृति ग्रहण करनी होगी। यही वह संज्ञान है, जो भक्त को शिव, विष्णु, कृष्ण या दिव्य जगत जननी, काली की भक्ति की ओर प्रेरित करता है। परन्तु, ये दिव्य प्रभु-शक्तियाँ प्रभु के निश्चित अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं, और यदि भक्त एक बार उनके मंडल तक पहुँच जाये, तो उनके स्थिर स्वरूप के कारण, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उन साधकों का आगे का रास्ता बंद हो जाता है। 'सुरत-शब्द योग' के सत्गुरु इन सीमा रेखाओं को पूर्णतया लांघ जाते हैं– वे जिज्ञासु को स्थिर स्वरूप से नहीं, बल्कि सर्वव्यापी प्रभुसत्ता से जोड़ते हैं, जोकि दिव्य ज्योतिर्मय नाद धारा है। यही वह 'अनाहत' (स्वतः उत्पन्न, जोकिसी प्रहार से उत्पन्न न हुआ हो) और 'अनहद' (अथाह, निरन्तर) 'नाम' या 'शब्द' है, जो सृष्टि के विशुद्ध आत्मिक मंडल से लेकर स्थूल प्राकृतिक मंडल तक व्याप्त विभिन्न मंडलों का आधार है। इसके संगीत की धाराएँ प्रत्येक क्षेत्र, और प्रत्येक मंडल में अनुगुंजित होती रहतीं हैं। जैसे एक नदी अपनी बनाई हुई घाटी में प्रवाहित रहती है, उसी तरह से यह धारा सभी मंडलों में हर समय संचारित होती रहती है। नदी की धारा की तरह ही यह अपने प्रवाहित रूप में यद्यपि यह हर मंडल में बदलती रहती है, किन्तु फिर भी सदा एकरस ही बनी रहती है। एक जिज्ञासु, जिसे 'शब्द-ध्वनि धारा' के प्रेम ने प्रेरित किया है, वह वास्तव में धन्य है, क्योंकि उसे उन सीमाओं में बद्ध नहीं होना पड़ता, जिनमें प्रभु की अन्य रूपों में उपासना करने वाले

बंध जाते हैं। जब साधक को उसकी आनन्दप्रद शक्ति के द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है, तो वह उसे बदलता हुआ, स्पष्टतर, विशुद्धतर और अधिक शक्तिशाली होता हुआ पाता है। यह साधक को उच्च से उच्चतर प्रयास की ओर प्रेरित करता है, कभी भी इधर-उधर भटकने या रुकने नहीं देता, बल्कि उसे एक मंडल से दूसरे मंडल तक, एक घाटी से दूसरी घाटी तक ले जाता है, और अंत में उसे उस मूल स्रोत तक पहुँचा देता है, जहाँ से अव्यक्त व्यक्त हुआ है, जहाँ निराकार ने आकार, और अनामी ने नाम धारण किया है। 'सुरत-शब्द योग' द्वारा सम्भव आंतरिक यात्रा की इस सम्पूर्णता के आधार पर ही संत कबीर ने कहा था :

साधु मेरे सब बड़े, अपनी अपनी ठौर।
सबद बिबेकी पारखी, सो माथे के मौर।।

— कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (बिबेक का अंग 2, पृ.144)

'सुरत-शब्द योग' न केवल विभिन्न योगों में सर्वाधिक सम्पूर्ण है, बल्कि समानान्तर रूप से अभ्यास में भी आसान है और सभी को उपलब्ध है। जो इस मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे न केवल अंतिम लक्ष्य को पा लेते हैं, अपितु ऐसा करने में उन्हें अन्य मार्गों की तुलना कम से कम परिश्रम करना पड़ता है। स्थूल चेतना के परे की अवस्था की प्राप्ति, जोकि प्राणों के मार्ग पर आधारित योगों द्वारा कठिन मेहनत और दीर्घ अभ्यास के पश्चात ही सम्भव है, उसे शब्द-योग के अभ्यासी प्रायः दीक्षा के समय, पहली ही बैठक में प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा होना कोई संयोग या आकस्मिक घटना मात्र नहीं है। वास्तविकता यह है कि 'सुरत-शब्द योग' मनुष्य की आध्यात्मिक समस्याओं को सुलझाने के लिए अन्य योगों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और प्राकृतिक तरीक़ा अपनाता है। इस योग में यह मान्यता है कि यदि आत्मा की धारा शारीरिक चक्रों में नीचे से नहीं, बल्कि ऊपर से पहुँचती है, तो फिर बारी-बारी से प्रत्येक निचले चक्र पर विजय पाना आवश्यक क्यों हो? एक मनुष्य यदि घाटी के मध्य में खड़ा हो और वह नदी के स्रोत पर पहुँचना चाहे, तो उसके लिए पहले नदी के सबसे निचले मुहाने पर जाकर पुनः ऊपर की ओर जाने की आवश्यकता तो नहीं होती। आगे इसकी मान्यता है कि यदि मन और प्राण– अपने शुद्धतम स्तर पर भी– आत्म-तत्व से प्रथक् हैं, तो वे उस आत्मा को उसके

आवरणों से अलग करने के लिये सर्वश्रेष्ठ साधन कैसे हो सकते हैं? यदि आत्मा को किसी ऐसे वस्तु के साथ जोड़ा जा सके, जोकि तात्विक रूप में उसके समान ही हो, तो चूँकि नियम है कि समान सारतत्व ही एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं, इसलिए कम से कम परिश्रम से ही इच्छित परिणाम प्राप्त हो सकता है। आत्मिक (सुरत की) धारा 'तीसरे नेत्र', 'दिव्य चक्षु' से ही पूरे शरीर में फैलती है। इसलिए केवल यह करना है कि इन्द्रियों पर नियंत्रण करके इसका प्रवाह, जो नीचे की ओर होता है, उस को रोकना है और इस प्रकार से यह स्वयं ही 'तीसरे नेत्र' पर एकाग्र होने लगती है और वापिस अपने स्रोत की ओर बहने लगती है।

चश्म बन्दो-गोश-बन्दो-लब बबंद,
गर न बीनी सिर्रे-हक़्क़ बर मन बख़ंद।

– मसनवी बू अली शाह क़लन्दर (पृ.30)

(अपने होठों को बंद कर लो, कानों तथा आँखों को बंद कर लो। और उसके बाद यदि 'सत्' का तुम्हें अनुभव न हो, तो मुझे तुम लानत कहना।)

जिज्ञासु को एकदम मूलाधार से या जड़ से शुरू करने की आवश्यकता नहीं है। उसे केवल यह करना है कि वह आत्मा की धारा की दिशा की ओर ध्यान करे, शेष सभी कुछ स्वयं ही हो जाएगा।

साईं दा की पावणा?
इद्धरो पटणा तो उद्धरो लावणा।

– इनायत शाह

'सुरत-शब्द योग' में विधि की सरलता एवं श्रम की बचत होने से ही अनेक लोगों ने इसे 'सहज मार्ग' अथवा आसान रास्ता कहना प्रारम्भ कर दिया। जिस स्थान पर जाकर अन्य योग प्रायः समाप्त होने लगते हैं, वहाँ से यह योग प्रारम्भ होता है। सहस्र-दल-कमल की भाँति विस्तृत ज्योतियों वाला केन्द्र, सहस्रार चक्र, जहाँ जाकर अन्य सभी योग प्रायः, शरीर के सभी निचले चक्रों को पार करके समाप्त हो जाते हैं– यह 'सुरत-शब्द योग' के साधकों की आध्यात्मिक यात्रा का पहला पड़ाव है। प्राणों की अथवा कुंड. लिनी शक्ति को छेड़ने से इनकार करके इस योग ने भौतिक देहाभास से ऊपर उठने में होने वाले तनाव को बहुत हद तक कम कर दिया है। शब्द ध्वनि से सम्बंध स्थापित करने के द्वारा सुरत की धाराएँ अभ्यासी को बिना

कोई प्रयास किए ही स्वत: ऊपर की ओर खिंचनी आरंभ हो जाती हैं और प्राणों की धारा को अछूता ही छोड़ दिया जाता है। यह न केवल समाधि की अवस्था में प्रवेश करने की प्रक्रिया को ही सरल बनाता है, अपितु इससे समाधि की अवस्था से लौटना भी बहुत सरल हो जाता है। इस मार्ग में निपुण व्यक्ति को स्थूल शरीर की चेतना में वापिस आने के लिये किसी बाहरी मदद की ज़रूरत नहीं होती, जैसा कि कई अन्य योगों में होता है; इसमें भौतिक देहाभास से ऊपर उठना तथा लौटना– दोनों ही पूरी तरह से स्वैच्छिक हैं और विचारों की गति से प्राप्त किए जा सकते हैं।

भौतिक देहाभास से ऊपर उठकर 'शब्द' से जुड़ने की विधि हमारे सामान्य दैनिक जीवन के अभ्यासों का एक विस्तार मात्र है। जब हम किसी कठिन समस्या से जूझ रहे होते हैं, तो हमारी समस्त चेतन शक्तियाँ स्वयंमेव एक स्थान पर एकत्र होने लगती हैं– भ्रूमध्य में आत्मा का निवास स्थल पर, हमारे शरीर में कार्यरत प्राणिक ऊर्जाओं को प्रभावित किए बिना ही। 'सुरत-शब्द योग' का अभ्यासी इस एकाग्रता को अपनी इच्छानुसार नियंत्रित अवस्थाओं में सुमिरन (स्मरण) तथा ध्यान के द्वारा प्राप्त करता है, और जैसे ही वह 'शब्द धुन' के संपर्क में आता है, सुरत की (आत्मिक) धारा, जोकि अभी भी शरीर में व्याप्त है, अबाध रूप से ऊपर की ओर सिमटने लगती है और व्यक्ति पूरी तरह से भौतिक देहाभास से ऊपर उठ जाता है।

सहज, प्राकृतिक और सरल होने की विशेषता ही 'सुरत-शब्द योग' को सर्वसुलभ बनाती है। दिव्य-शब्द का संगीत सभी के अन्दर समान रूप से गुंजायमान हो रहा है और जो कोई भी इसके रास्ते को अपनाता है, उसे किसी विशेष शारीरिक या बौद्धिक योग्यता की ज़रूरत नहीं होती है। यह मार्ग जितना युवाओं के लिये खुला है, उतना ही बुजुर्गों के लिये भी, जितना संतों के लिये खुला है, उतना ही पापियों के लिये भी, जितना पढ़े-लिखों के लिये खुला है, उतना ही साधारण अनपढ़ों के लिये भी, और जितना पुरुषों के लिये सुलभ है, उतना ही स्त्रियाँ और बच्चों के लिये। वास्तव में, स्त्रियाँ और बच्चे, और सीधे-साधे लोग अपनी सरल विचारधारा तथा अपनी सहज आस्था के कारण अपने ज्यादा पढ़े-लिखे और अधिक साधन सम्पन्न भाइयों की अपेक्षा अक़्सर जल्दी ही तरक़्क़ी कर जाते हैं। फिर भी,

इस मार्ग में पूर्णत्व की प्राप्ति के लिये अडिग और दीर्घकाल तक अनथक प्रयास की आवश्यकता होती है, जो प्राय: सदैव प्राप्य नहीं हो पाता। क्योंकि इसमें भोजन, शारीरिक व्यायाम इत्यादि की कठोर एवं विस्तृत अनुशासन की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए इसमें संन्यास अथवा संसार और घरबार को पूर्णतया त्यागने की भी आवश्यकता नहीं भी होती, और इसीलिए यह मार्ग किसी विवाहित व्यक्ति के लिए भी उतना ही उपलब्ध है, जितना आ. जीवन अविवाहित रहने वाले ब्रह्मचारी के लिए। यदि प्राणों तथा विज्ञान पर आधारित प्रणालियाँ उपलब्ध प्रणालियों में सबसे अधिक प्राकृतिक होतीं, तो हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता कि प्रकृति का बर्ताव भेदभावपूर्ण है, क्योंकि इनके अभ्यास के लिए आवश्यक शारीरिक एवं मानसिक योग्यताएँ सभी व्यक्तियों में समान रूप से नहीं बँटी हुई हैं। यदि धूप और हवा सभी को बराबर रूप से सुलभ हैं, तो फिर आत्मिक भेंटें भला कुछ ही चुनिन्दा लोगों को प्राप्य क्यों हों? इसके अतिरिक्त, प्राण तथा विज्ञान अधिक से अधिक व्यक्ति को अपने उत्पत्तिस्रोत तक ही ले जा सकते हैं और क्योंकि वे स्वयं विशुद्ध आत्मिक नहीं हैं, तो फिर वे किसी को विशुद्ध आत्मा के मंडल में कैसे ले जा सकते हैं?

फिर भी, यदि यह कहें कि यह 'सुरत-शब्द योग' यौगिक विज्ञानों में सबसे अधिक सम्पूर्ण और प्राकृतिक है, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इसके लिए प्रयत्न करना नहीं पड़ता और कोई व्यक्ति इसमें बिना मेहनत करे ही सफल हो सकता है। यदि ऐसी बात होती, तो मानवता आज जितनी दुष्कर अवस्था में है, वैसी न होती। सच्चाई तो यह है कि इस विज्ञान के, जोकि सभी विज्ञानों के सिरमौर है, समर्थ सत्गुरु बहुत ही दुर्लभ हैं, और यदि कोई ऐसा सत्गुरु मिल भी जाए, तो बहुत ही कम लोग उस प्रकार के अनुशासन पर चलने को राज़ी होते हैं, जिसकी इसमें ज़रूरत होती है। आत्मा भले ही आकाशों में उड़ना चाह रही हो, परन्तु यह माँसल देह कमज़ोर है। अधिकतर व्यक्ति सांसारिक प्रेम में इतने डूबे हुए हैं कि वे आंतरिक ख़ज़ानों की, जिन्हें पाकर वे सारी दुनिया के मालिक बन सकते हैं, एक झलक पाने के बाद भी वे उन तुच्छ सांसारिक पदार्थों के मोह को नहीं छोड़ पाते और स्वयें को उस पर केन्द्रित नहीं कर पाते, जिसे पाकर व्यक्ति सभी कुछ का स्वामी बन जाता है। क्योंकि इस योग में

सदैव अंतमुर्खता पर ज़ोर दिया जाता है, बाह्य पर कदापि नहीं, अत: कोई भी मार्ग साधारण व्यक्तियों के लिये इससे कठोर नहीं हो सकता। अनेक व्यक्ति सारी जिंदगी बाहरी रीति-रिवाज़ों में गुज़ार सकते हैं; परन्तु ऐसी सम्पूर्ण आंतरिक एकाग्रता बहुत थोड़े से ही व्यक्ति विकसित कर सकते हैं, जो सांसारिक विचारों से भंग न हो- वह भी केवल कुछ एक क्षणों के लिये। इसीलिये संत कबीर ने इस योग की तुलना नंगी तलवार की धार पर चलने से की है, जबकि सूफ़ियों ने इसे 'राह-ए-मुस्तक़ीम', बाल से भी बारीक़ और उस्तरे की धार से भी तेज़ कहा है। क्राइस्ट ने उसे 'सीधा और तंग रास्ता' बतलाया, जिस पर से बहुत कम व्यक्ति गुज़रे हैं। परन्तु, ऐसे व्यक्ति के लिये, जिसे संसार लुभा कर आकर्षित नहीं करता और जो प्रभु के अनुरागी प्रेम से भरपूर है, इस मार्ग से ज़्यादा आसान और लक्ष्य तक जल्दी पहुँचाने वाला अन्य कोई रास्ता नहीं हो सकता। उसे अपनी आंतरिक लगन के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति की ज़रूरत नहीं है, और प्रभु के प्रति उसकी सच्ची और प्रबल चाहत के द्वारा सभी लगावों से पवित्र व शुद्ध होकर, उसकी आत्मा शब्द की धारा पर सवार हो, अपने स्रोत अर्थात् निज-घर की ओर, जोकि आनन्द और शांति का देश है, उड़ान भरेगी। अपने निजघर के इस उड़ान में उस आत्मा के सामने यदि कोई कठिनाई आती है, तो उसका ज्योति स्वरूप मित्र सदा ही उसके साथ है, जो उसे कठिनाइयों से पार करायेगा और सभी फन्दों से बचाकर, पार ले जायेगा।

उच्चतर मंडलों का रास्ता उसके सामने उतनी ही सम्पूर्णता के साथ निर्धारित हो जाता है, जितना कि हठयोगियों के लिए निचले शारीरिक चक्रों का मार्ग निर्धारित हो जाता है। ऐसी सक्षम शक्ति की सहायता तथा ऐसे समर्थ मित्र (सत्गुरु) के मार्गदर्शन से कोई भी न तो उसे रोक ही सकता है, न ही मार्ग से भटका सकता है, तथा उसकी यात्रा की सहजता में कोई चीज़ बाधा नहीं डाल सकती। जलालुद्दीन रूमी फ़रमाते हैं :

दामने-ऊ गीर ऐ यारे-दलेर,
कू मुनज़्ज़ा बाशद अज़ बाला ओ ज़ेर।
बा तू बाशद दर मकानो-ला-मकान,

चूँ बिमानी अज़ सरा ओ अज़ दुकान।

– मसनवी मौलाना रूमी (दफ़्तर 3, पृ.45)

(ऐ बहादुर आत्मा! किसी ऐसे का पल्ला पकड़ो, जो इस स्थूल संसार और ऊपर के मंड़लों {सूक्ष्म, कारण और शुद्ध चेतन मंडल} का वाकिफ़ {जानने वाला} हो। जब तुम इस संसार में रहो, जंगलों, पहाड़ों, उजाड़ों और दुख सुख में वह तुम्हारे साथ रहे और जब तुम देह छोड़ कर, चाहे जीवित मर कर और चाहे देह छोड़ने के बाद, सूक्ष्म, कारण और उससे पार निर्मल चेतन देशों में पहुँचो, क्योंकि वह जीवन में और मृत्यु में भी अर्थात् लोक में और परलोक में भी तुम्हारा संगी, सहाई बना रहेगा।)

गुरु नानकदेव जी इसी संदर्भ में फ़रमाते हैं :

नानक सतिगुरि भेटिऐ पूरी होवै जुगति॥
हसंदिआ, खेलंदिआ, पैनंदिआ, खावंदिआ विचे होवै मुकति॥

– आदि ग्रंथ (गूजरी की वार म॰5, पृ॰522)

और फिर,

जैसे जल महि कमलु निरालमु मुरगाई नै साणे।
सुरति सबदि भव सागरु तरीऐ नानक नामु वखाणे॥

– आदि ग्रंथ (रामकली म॰1, पृ॰938)

सत्गुरु

'शब्द-धारा' का योग अन्य सभी प्रकार के योगों की अपेक्षा अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तुलनात्मक रूप से आसान पहुँच, इसके प्राकृतिक होने की विशेषता तथा दूसरे योगों में पाये जाने वाली कमियों से रहित होने के अलावा, इस योग का एक अद्वितीय तथा व्यापक पक्ष यह भी है कि इसमें हर क़दम पर एक सत्गुरु, 'पीर-ए-राह' अथवा 'मुर्शिदे-ए-क़ामिल' (एक समर्थ जीवित सत्गुरु) की आवश्यकता पर विशेष बल दिया जाता है। यद्यपि 'आधारस्तंभ' शीर्षक के अंतर्गत इस विषय में कुछ बातें पहले ही कही जा चुकी हैं, किन्तु फिर भी विस्तृत व्याख्या के लिये बहुत कुछ शेष बचा रहता है।

गुरु-शिष्य सम्बंध सभी क्रियात्मक योगों में मुख्य भूमिका रखता है, परन्तु यहाँ पर यह मुख्य केन्द्र-बिन्दु है। 'सुरत-शब्द योग' में गुरु केवल

एक ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो हमें अस्तित्व की वास्तविक प्रकृति के बारे में समझाता है, जीवन के सच्चे मूल्यों के बारे में उपदेश व आदेश देता है और हमें आंतरिक उपलब्धि के लिए की जाने वाली साधना के बारे में बताता है, परन्तु इससे भी बढ़कर वह बहुत कुछ है। वह आंतरिक मार्गदर्शक भी है, जोकि आत्मा को एक से दूसरे मंडल तक ले जाते हुए, उसका अंतिम लक्ष्य तक मार्गदर्शन करता है। उसकी सहायता के बग़ैर, आत्मा, बीच के स्थलों को ही अंतिम लक्ष्य मानने की ग़लती कर बैठती है और ऐसी रुकावटों से घिर जाती है, जिनको वह सत्गुरु के बिना कभी भी पार नहीं कर सकती।

सत्गुरु की जो भूमिका है, उसे देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उन सभी सूफ़ी-संत महापुरुषों ने, जिन्होंने इस मार्ग का अनुसरण किया, सर्वोच्च भाव-भक्ति और आराधना के साथ उसका गुणगान किया। भाई गुरदास कहते हैं :

चाहत चरन रेनु सकल आकार है।।
चरन कमल सुख संपट सहज घरि,
निहचल मति परमारथ बीचार है।।

– भाई गुरदास, कबित्त–सवैये (217)

और सिक्ख धर्मग्रंथों में उसकी महिमा इस प्रकार गायी गई है :

माई चरन गुर मीठे।।
वडै भागि देवै परमेसरु कोटि फला दरसन गुर डीठे।।

– आदि ग्रंथ (टोडी म॰5, पृ॰717)

सूफ़ियों से हमें यह सुनने को मिलता है :

गर बिगोयम ता क़यामत नअते-ऊ,
हेच आँ रा गायतो-मक़तअ मजू।

– मसनवी मौलाना रूमी (दफ़्तर 1, पृ.311)

(यदि मैं क़यामत तक गुरु की स्तुति करता रहूँ, तो भी उनकी महिमा पूरी नहीं हो सकती।)

कुछ संत-महापुरुष तो गुरु को परमात्मा से भी ऊँचा स्थान देते हैं :

गुरु हैं बड़ गोबिंद तें, मन में देखु बिचार।

हरि सुमिरै सो वार है, गुरु सुमिरे सो पार।

– कबीर साखी–संग्रह, भाग 1 (गुरुदेव का अंग 34, पृ.3)

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े, का के लागौं पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिंद दियो बताय।।

– कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (गुरुदेव का अंग 10, पृ.2)

ये सभी बातें शंकालू व्यक्ति को व्यक्तिगत बुतपरस्ती का सन्देह उत्पन्न करा सकती हैं। वह पूछ सकता है, "एक मनुष्य को परमात्मा मानने का यह मत कैसा? एक मरणशील व्यक्ति की इतनी प्रशंसा क्यों?" महापुरुषों ने कई बार इस प्रश्न का उत्तर बड़े सहज भाव से दिया है :

ख़लक़ मी गोयद किह् ख़ुसरो बुत परस्ती मी कुनद,
आरे आरे मी कुनम बा ख़लक़ो-आलम कार नीस्त।

– अमीर ख़ुसरो

(दुनिया कहती है कि ख़ुसरो बुतपरस्ती करता है। हाँ, हाँ मैं करता हूँ, मुझे दुनिया से क्या वास्ता?)

परन्तु, कभी-कभी उन्होंने स्वयं ही इस का उत्तर पूरी तरह से भी दिया है :

बिन गुर दाते कोइ न पाए।
लख कोटी जे करम कमाए।।
गुर किरपा ते घट अंतरि वसिआ सबदे सचु सालाहा हे।।

– गुरु अमरदास (आदि ग्रंथ, मारू म॰3, पृ॰1057)

हरि सुमिरे सो वार है, गुरू सिमरे सो पार।

– कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (गुरुदेव का अंग 34, पृ.3)

अंतरि हरि गुरू धिआइदा वडी वडिआई।।
तुसि दिती पूरै सतिगुरू घटै नाही इकु तिलु किसै दी घटाई।।
सचु साहिबु सतिगुरू कै वलि है ताँ झखि झखि मरै सभ लोकाई।।

– गुरु रामदास (गउड़ी की वार म॰4, पृ॰307)

हरि ने जनम दियो जग माहीं,
गुरु ने आवागमन छुटाहीं।

– सहजोबाई की बानी, सहज प्रकाश (हरि ते गुरू की बिशेषता, पृ.6)

सभी महान संतों-सत्गुरु यह कहते रहे हैं कि बिना जीवित सत्गुरु की सहायता के आत्मिक यात्रा कठिन ही नहीं, असम्भव है। उसके बिना अंतिम लक्ष्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। फ़ारसी सूफ़ी संत जलालुद्दीन रूमी, इसी बात पर ज़ोर देते हुए इस प्रकार फ़रमाते हैं :

वहमे मूसा बा हमे नूर व हुनर।
शुद अज़ आन महजूब तो बी पर म पर॥

– मौलाना रूमी

(हज़रत मूसा यद्यपि सम्पूर्ण शक्ति और ज्योति से सम्पन्न थे, परन्तु रहस्य में रहे। तो फिर तुम जो बिना पंखों के हो, उड़ने की कोशिश मत करो अर्थात् बिना गुरु की कृपा और शब्द ध्वनि के पंखों के रूह आसमानों में नहीं उड़ सकती है और बिना सत्गुरु की सहायता के यह सम्भव नहीं हो सकता।)

और आगे वचन को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :

पीर रा बगुज़ीं किह् बे पीर ईं सफ़र,
हस्त बस पुर आफ़तो-ख़ौफ़ो-ख़तर।

– मसनवी मौलाना रूमी (दफ़्तर 1, पृ.308)

(ऐ रूह! तू सत्गुरु की तलाश कर, क्योंकि उसकी सक्रिय कृपा और मार्गदर्शक सहायता के बिना यह रूहानी यात्रा ख़तरों, मुसीबतों और भयों से भरी है।)

बाइबिल के सुसमाचारों में भी यही ध्वनिनाद है, जो ईसा मसीह की उक्तियोंमें प्रतिध्वनित होता है :

कोई भी मानव मेरे बिना परमपिता परमात्मा के निकट नहीं आ सकता।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 14:6)

पुत्र के सिवाय पिता को कोई भी मनुष्य नहीं जान सकता, और वह, जिसे पुत्र उसको प्रकट कर दे।

– पवित्र बाइबिल (लूका 10:22 तथा मत्ती 6:32)

सिवाय उसके, जिसको पिता ने मुझे उसको आकर्षित करने भेजा है, कोई भी मनुष्य मेरे पास नहीं आ सकता और मैं उसे (क़यामत के) आख़िरी दिन ऊपर उठा लूँगा (अर्थात् उसका उद्धार कर दूंगा)।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 6:44)

ईसा ने अपने 12 प्रमुख शिष्यों को अपना धर्मप्रचारक बनाते समय कहा था :

वह जो तुम्हें प्राप्त करेगा, वह मुझे ही करेगा, और जो मुझे प्राप्त करेगा वह उसे प्राप्त करेगा, जिसने मुझे भेजा है।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 10:40)

इसी कारण ईसा उनका, जो उनके द्वारा प्रभु की शरण में आये, पूरा उद्धार कर पाये, क्योंकि उन्होंने यह जान लिया था कि वे सदैव उनकी मध्यस्थता करने के लिये जीवत रहेंगे।

सत्गुरु वाक़ई एक मध्यस्थ अर्थात् रसूल होता है, जो हमारे और प्रभु के बीच रहता है, दिव्य शब्द-धारा से हमें जोड़ता रहता है और उसके बिना मुक्ति की आशा बहुत ही कम हो सकती है। कोई भी मित्रता उसकी मित्रता से बड़ी नहीं हो सकती, कोई भी प्रेम उसके प्रेम से सच्चा नहीं हो सकता, कोई भी उपहार उसकी कृपा से बढ़कर नहीं हो सकता। जीवन में उतार-चढ़ाव लोगों को अलग कर सकता है और मृत्यु प्रगाढ़तम् प्रेमियों को भी अलग कर देती है, परन्तु केवल सत्गुरु ही ऐसा है, जो जीवित और मृत्योपरांत– दोनों ही अवस्थाओं में अपने शिष्य को कभी नहीं छोड़ता।

मैंने तुम्हें आज्ञा (दीक्षा) दी है और देखना! मैं सदा ही, दुनिया के अंत तक भी, तुम्हारे साथ हूँ।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 27:17)

सजण सेई नालि मै चलदिआ नालि चलंन्हि।।
जिथै लेखा मंगीऐ तिथै खड़े दिसंनि।।

– आदि ग्रंथ (सूही म॰1, पृ॰729)

अन्य तोहफ़े विकृत होकर नष्ट हो जाते हैं, परन्तु उसके द्वारा दिया हुआ उपहार– प्रभु का शब्द अनश्वर है, सदा ही जाज्वल्यमान, तरोताज़ा और नवीन है। वह जीवन का वरदान है और मृत्योपरांत, उससे भी बड़ा वरदान।

सत्गुरु यह अद्वितीय और अतिमानवीय शक्ति कहाँ से प्राप्त करता है, जो उसे प्रभु के ही बराबर बना देती है तथा उसके शिष्यों की दृष्टि में उसे प्रभु से भी ऊँचे दर्जे पर स्थापित करती है। क्या नश्वर शरीर उस

अमरत्व का मुक़ाबला कर सकता है? क्या सीमित असीम को पछाड़ सकता है? दुनिया की नज़र में यह एक विरोधाभास हो सकता है, परन्तु जिन्होंने खुले नेत्रों से आंतरिक दुनिया की बादशाहत में प्रवेश पाया है, उन्हें इस में कोई विरोधाभास नहीं दिखाई देता– वे इसमें केवल प्रभु की महानता के रहस्य को ही देखते हैं। सच्चा सद्गुरु वह है, जिसने अपने सत्गुरु की शिक्षा-दीक्षा और निर्देशन में अपनी आत्मा का, स्थूल शरीर से प्रथक् कर, विश्लेषण करना और आंतरिक पथ पर अंतिम लक्ष्य तक यात्रा तय कर सीखा होता है, और जो सम्पूर्ण ज्योति व जीवन के स्रोत को पा चुका होता है और अनामी में लय होकर तद्रूप हो गया है। मानव स्तर पर वह हम में से किसी एक जैसा ही सीमित मालूम होता है, परन्तु आध्यात्मिक मंडलों पर वह वैसा ही असीम और अनन्त है, जैसा प्रभु स्वयं है :

ऐ मेरे दास! मेरी आज्ञा का पालन कर, और मैं तुझे अपने जैसा ही बना दूँगा। मैं कहता हूँ, "हो जा" और ऐसा होता है और उसके बाद यदि तुम भी कहोगे कि "हो जा," तो वैसा ही हो जायेगा।

– बहा'उल्लाह (चार घाटियाँ)

शब्द सदेह हुआ, और हमारे बीच आकर रहा।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 1:14)

सबदु गुर पीरा गहिर गंभीरा बिनु सबदै जगु बउरानं॥

– आदि ग्रंथ (सोरठ म॰1, पृ॰635)

समुंदु विरोलि सरीरु हम देखिआ इक वसतु अनूप दिखाई॥
गुर गोविंदु गुोविंदु गुरू है नानक भेदु न भाई॥

– आदि ग्रंथ (आसा म॰4, प॰442)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुःसाक्षात् परब्रह्मः तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

– स्कन्द पुराण, गुरु गीता (32)

(गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है और गुरु ही महेश है। गुरु वास्तव में परब्रह्म ही है। अत: हम गुरु को नमस्कार करते हैं।)

गुरु-शिष्य का नाता अनेक स्थानों पर निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है :

एक शिष्य के लिये सच्चा गुरु कौन है?

तेरा कवणु गुरू जिस का तू चेला॥.....
सबदु गुरू सुरति धुनि चेला॥

– आदि ग्रंथ (रामकली म॰1, पृ॰942)

सबदु गुर पीरा गहिर गंभीरा बिनु सबदै जगु बउरानं॥

– आदि ग्रंथ (सोरठ म॰1, पृ॰635)

बाणी गुरू गुरू है बाणी विचि बाणी अंमृतु सारे॥
गुरु बाणी कहै सेवकु जनु मानै परतखि गुरू निसतारे॥

– आदि ग्रंथ (नट असटपदीआ म॰4, पृ॰982)

सुरत शिष्य शबदा गुरू मिल मारग जाना हो।
लख आकास ऊंधा कूआं ता मैं सुरत समाना हो॥

– संत तुलसी साहिब

सबदु गुरू गुण जाणीऐ गुरमुखि होइ सुरति धुनि चेला॥

– भाई गुरदास (वारां गिआन रतनावली 7:20)

गुरु हमारा गगन महं, चेला है घट माहे।
सुरत शबद मिलना भया, बिछुड़त कबहूं नाहे॥

– कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (गुरुदेव का अंग पृ॰5, 93)

प्रभु और प्रभु-रूप सत्गुरु में एक अनिवार्य एवं अभिन्न सम्बंध है, क्योंकि वह एक ऐसे मानवीय ध्रुव के रूप में कार्य करता है, जिसके माध्यम से प्रभु की सत्ता अपना कार्य करती है और जीवों के पुनरुद्धार में सहायता करती है। चुंबक और चुंबकीय क्षेत्र में भेद करना अनावश्यक है; इसलिये कहा गया है :

सतिगुर की सेवा सफल है जे को करे चितु लाइ॥
नामु पदारथु पाईऐ अचिंतु वसै मनि आइ॥

– आदि ग्रंथ (बिहागड़ा की वार म॰4, पृ॰552)

सांसारिक दौलतों की ओर से विरक्त, वह भले ही ग़रीब नजर आता हो, परन्तु वह प्रभु की अनन्त सत्ता का धनी है। एक बार शारीरिक

बन्धन छूट जाने पर वह प्रभु के उस स्थिर केन्द्र में लीन हो जाता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है। जो चीज़ उसे अद्वितीय स्थान देती है, वह है उसका परिपूर्ण प्रभु के साथ आत्मिक रूप में एकमेकता, और उसे मानवीय स्तर पर आंकने का प्रयास उसे समझने में असफल होना है। रूमी ने ठीक ही कहा है :

नूरे-हक़ ज़ाहिर बुवद अंदर वली,
नेक बीं बाशी अगर अहले-दिली।

– मसनवी मौलाना रूमी (दफ़्तर 1, पृ.39)

(सत्गुरु में रब्ब का नूर झलकता है। हम उसके प्रकट मनुष्य रूप को देखते हैं, इसलिए हम यह नहीं जान सकते कि वह अन्दर से रब्ब होता है। देखने में वह मनुष्य रूप धारण किए हुए है, पर वास्तव में वह रब्ब है।)

उसके अन्दर वह अति-मानवीय शक्ति होती है, जिसके कारण वह सत्गुरु हो जाता है। दिव्य प्रभुसत्ता की महाचेतनता में लय होकर वह अपने मनुष्यस्वरूप में, प्रभु का प्रतिनिधि बन जाता है और फिर वह जो कुछ भी कहता है, वह उसका अपना कहा नहीं होता, अपितु प्रभु का कहा होता है।

चूँकि दस्त ख़ुद बा-दस्ते निही,
पस ज़-दस्ते आकिलाँ बेरूँ जही।
दस्ते-ओ अज़ अहलाने बैअत शवद,
कि यदुल्लाहि फ़ौक़ ऐदीहिम् बवद।

– मौलाना रूमी

(जब तुम अपना हाथ उसके हाथों में रखोगे, तब तुम अपने नाशकों की गिरफ़्त से बच निकलोगे और तुम्हारा हाथ प्रणबद्ध व्यक्तियों अर्थात् दीक्षितों का हिस्सा बन जायेगा, क्योंकि प्रभु का हाथ उनके हाथों पर है।)

पवित्र कुरान भी कहती है :

इन्नल्ल ज़ीन युबायिऊनक इन्नमा युबायिऊनल्लाह
यदुल्लाहि फ़ौक़ ऐदीहिम्।

– पवित्र कुरान (48:10)

(ऐ पैग़म्बर! जो लोग तुझसे बेअ़त करते हैं यानी हाथ पर हाथ रखकर प्रतिज्ञा करते हैं, वे अल्लाह से बेअ़त करते हैं। उनके हाथों पर अल्लाह का हाथ है।)

जैसी मै आवै खसम की बाणी तैसड़ा करी गिआनु वे लालो।।

– आदि ग्रंथ (तिंलग म॰1, पृ॰722)

मैं अपनी ओर से कुछ नहीं करता, बल्कि जैसा मेरे पिता ने मुझे सिखाया है, मैं इन बातों को वैसा ही कहता हूँ।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 8:28)

गुरु, क्योंकि जो कुछ भी वह है, उसके बारे में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उसे इतना ऊँचा स्थान दिया जाये। प्रभुसत्ता का माध्यम होने के कारण, उसकी प्रशंसा दूसरे शब्दों में प्रभु की ही प्रशंसा है। उसे प्रभु से भी ऊपर स्थापित करने में सीमित और असीमित के बीच में कोई विरोध उत्पन्न करना नहीं है, बल्कि मानवीय दृष्टिकोण से यह स्वीकार करना है कि प्रभु का वह पक्ष है, जो मनुष्य को अपने स्तर तक ऊपर उठाने के लिये मानव की ओर झुकता है (केन्द्राभिसारी, centripetal पक्ष)। यह पक्ष प्रभु के उस पक्ष से उच्चतर है, जोकि मात्र उसे इस सापेक्षिक संसार में जन्म-जन्मांतर तक जीने देता है (केन्द्रापसारी, centrifugal पक्ष)। फिर भी, मानवस्तर से ऊपर आकर, दोनों ही एकल, समयुज्य और अविभाज्य पक्ष ही दिखाई पड़ते हैं।

एक ऐसी प्रणाली में, जिसमें शिष्य के आंतरिक व बाह्य अनुशासन एवं विकास के प्रत्येक पक्ष के लिये, गुरु इतना केन्द्रीय महत्व रखता है तथा जिसकी आज्ञा व मार्गदर्शन के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता, दयामेहर के सिद्धांत पर अधिक बल देना होगा, और आध्यात्मिक साहित्य इस बात पर अत्यधिक महत्व व बल देने गया है। परन्तु, यदि एक दृष्टि से, सत्गुरु ही शिष्य को हर प्रकार की बख़्शीश देता है, तो यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ऐसा करते हुए, वह केवल उस ऋण को ही उतार रहा होता है, जोकि उसे अपने सत्गुरु से बख़्शीशें आशीर्वाद के रूप में उस समय मिली थीं, जब वह स्वयं एक शिष्य की अवस्था में था। इसीलिये वह अपने लिये कुछ भी दावा नहीं करता और अपनी शक्तियों को अपने मात्र सत्गुरु के दया-मेहर की देन ठहराता है। इसके अतिरिक्त, एक दूसरे दृष्टिकोण से, सब कुछ शिष्य के अन्दर ही मौजूद है और बाहर से सत्गुरु कुछ भी नहीं जोड़ता। जब माली बाग़ में पानी देता है और बीजों को डालकर उनकी देखभाल करता है, तभी उनमें जीवन प्रस्फुटित हो उठता है; परन्तु जीवन का रहस्य तो बीज के अन्दर ही मौजूद है और माली तो केवल ऐसा वातावरण तैयार करता है, जिससे वह फल-फूल सके–

उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं। गुरु का कार्य भी वास्तव में ऐसा ही है।

एक पुरातन-भारतीय कथानक इस गुरु-शिष्य सम्बंध को भली भाँति स्पष्ट करता है। इसके अनुसार, एक बार एक गडरिये ने एक शेर के बच्चे को जाल में फँसा लिया और अपने भेड़-बकरियों के रेवड़ के साथ ही उसका पालन-पोषण करने लगा। उस सिंह-शावक ने अपने आप को अपने आस-पास के वातावरण के अनुसार ही आँका और वह भी बाक़ी भेड़ बकरियों की भाँति रहने लगा। उन्हीं के द्वारा फेंकी हुई घास खाकर और उन्हीं की तरह मिमिया कर संतुष्ट रहने लगा। इस तरह समय व्यतीत होता गया, किन्तु एक बार एक दूसरे शेर ने उसे इस तरह से घास चरते देख लिया। अन्य भेड़-बकरियों के साथ उसे फिरते देखकर वह समझ गया कि माजरा क्या है और उसने उसकी दुर्दशा का अनुमान लगा लिया। शेर उसके पास गया और उसे एक कोने में बुलाकर एक शांत जलधारावाली नदी के किनारे ले जाकर पानी में उसे उसकी अपनी और स्वयं की परछाई दिखाई। फिर वापिस मुड़कर उसने एक तेज़ दहाड़ लगाई। उस सिंह-शावक ने जब अपने वास्तविक स्वरूप को पहचाना, तो उसने भी उस साथी मार्गदर्शक गुरु शेर की भाँति ही दहाड़ लगाई। इससे उसके पहले की सभी साथी-संगी भेड़ बकरियाँ भाग खड़ी हुईं। इस प्रकार अब वह अपना उचित स्थान ग्रहण करने के लिये स्वतंत्र था और उसके बाद से वह जंगल के राजा की भाँति रहने लगा।

सत्गुरु वास्तव में ऐसे शेर की भांति ही होता है। वह गहन निद्रा में सोई हुई आत्मा को जगाने आता है और उसे दर्पण दिखाकर, उसका अपना ज्योतिर्मय निज-स्वरूप दिखलाता है, जिससे वह उसके स्पर्श के बिना अनजान ही रह जाये। यदि यह स्वयं जीवन की ज्योति न होता, तो उसे आत्मिक चेतना तक उठाया नहीं जा सकता था। गुरु एक प्रज्ज्वलित दीपक है, जो अन्य दीपों को प्रज्ज्वलित कर देता है। तेलरूपी ईंधन तथा बत्ती तो पहले से ही मौजूद हैं; वह केवल ज्योति का दान देकर उन्हें बिना अपना कुछ खोये प्रज्ज्वलित कर देता है। वस्तु अपने समान ही किसी वस्तु को प्रभावित करती है, उनके बीच में एक धारा प्रवाहित होती है, और इस प्रकार जो अभी तक अंधकारमय था, वह जगमगा उठता है और जो अभी

तक निर्जीव था, वह सजीव हो उठता है। जली हुई मोमबत्ती की तरह इसकी महत्ता इस बात में नहीं है कि वह एक व्यक्तिगत ज्योति है, बल्कि इस बात में है कि वह उस अभिन्न ज्योति का केन्द्र है, जो न केवल इस या उस मोमबत्ती से सम्बंधित है, बल्कि वह समस्त ज्योतियों का अंतर्तत्व, अग्नि है। ऐसा ही एक सच्चे सत्गुरु के साथ होता है। जो सत्गुरु है, वह किसी व्यक्तिगत गुरु के रूप में नहीं है, बल्कि वह तो ऐसा गुरु है, जो अपने अन्दर प्रभु की सर्वव्यापक ज्योति को समाये हुए है।

पुनश्चः, जैसे कि केवल एक ऐसी ही मोमबत्ती, जो अभी भी प्रज्ज्वलित हो, अन्य मोमबत्तियों को प्रज्ज्वलित कर सकती है– न कि वह, जो पहले ही जल कर बुझ चुकी है– इसी प्रकार केवल एक जीवित सत्गुरु ही आगे ज्योति प्रदान कर सकता है, न कि वे, जो इस संसार से विदा ले चुके हैं। जो इस संसार से जा चुके हैं, वे वास्तव में महान थे और हर प्रकार से हमारे आदर के पात्र हैं; परन्तु वे अपने समयों के लिये ही थे और जो काम उन्होंने अपने समकालीन व्यक्तियों के लिए किए, हमारे लिए वही काम केवल वही कर सकता है, जो हमारे बीच रह रहा और चल-फिर रहा हो। उनकी स्मृति एक पवित्र ख़ज़ाना है, प्रेरणा का एक निरन्तर स्रोत है। एक चीज़, जो उनकी यादें हमें सिखाती हैं, वह यह है कि हमें भी अपने जीवन में उनके ही जैसे महापुरुष की आवश्यकता है। केवल एक जीवित राजकुमार (सत्गुरु) के चुंबन से ही प्रसुप्त राजकुमारी (आत्मा) पुनः जागृत हो सकती है, और केवल एक जीवित-जागृत 'सुंदरी' के स्पर्श से ही 'पशु' को उसकी अपनी सनातन प्राकृतिक आभा में पुनःस्थापित किया जा सकता है।

जहाँ एक समर्थ जीवित सत्गुरु का मार्गदर्शन इतना आवश्यक है, वहाँ ऐसे सच्चे महात्मा को खोजना और पहचानना प्रमुख महत्व का कार्य हो जाता है। झूठे गुरुओं और भेड़ों के वेश में छिपे भेड़ियों की संसार में कोई कमी नहीं है। 'सत्गुरु' अर्थात् सच्चा गुरु शब्द ही नक़ली गुरुओं के अस्तित्व की ओर संकेत करता है, और हमें प्रायः हर मोड़ पर झूठे मिल जाते हैं। परन्तु भले ही ऐसे प्रभु-रूप हस्ती को खोज पाना कठिन कार्य हो (क्योंकि ऐसे महापुरुष पहले तो दुर्लभ ही हैं, सादग़ी और नम्रता से पूरी तरह भरे होते हैं और चमत्कार दिखाकर या जनता में अपने आप

को प्रसिद्ध करने में बिल्कुल अनिच्छुक रहते हैं), उन्हें ढूँढ निकालना तथा बाक़ियों से अलग करके पहचानना असम्भव नहीं है। वे जो कुछ भी सिखाते हैं, उसका वे जीवित स्वरूप होते हैं और यद्यपि ऐसा सत्गुरु ग़रीब नज़र आता हो, परन्तु वह अपनी ग़रीबी में ही धनी होता है।

गर बसूरत गदाए ईं कूएम,
बसिफ़त बीं किह् मा चिह सुलतानेम।।

– शम्स तबरेज़

(हम भले ही ग़रीब नज़र आते हों, परन्तु हमारे कार्य महाराजाओं से भी उच्चतर हैं।)

वह सांसारिक पदार्थों से पृथक् रहता है और कभी लालच नहीं करता। अपनी शिक्षाएँ और निर्देश प्रकृति की भेंटों की भाँति मुफ़्त में देता है, वह बदले में कभी कुछ नहीं चाहता और अपनी देखभाल ख़ुद अपनी कमाई पर करता है और कभी दूसरों के दिये हुए दान पर निर्भर नहीं रहता।

गुरु पीरु सदाए मंगण जाइ।।
ता कै मूलि न लगीऐ पाइ।।
घालि खाइ किछु हथहु देइ।।
नानक राहु पछाणहि सेइ।।

– आदि ग्रंथ (सारंग की वार म॰4, पृ॰1245)

पुनश्च:, एक वास्तविक सत्गुरु हमारे दिमाग़ों में कोई विरोधाभास पैदा नहीं करता। उसके स्पर्श से विभिन्न मतों एवं धर्मों आदि के बीच भेदभाव समाप्त हो जाते हैं और विभिन्न धर्मग्रंथों में वर्णित आंतरिक अनुभव की एकता पूरी तरह से प्रकट हो जाती है।

क़दरे लाले ऊ बजुज़ आशिक़ न दानद हैच कस,
कीमते-याक़ूत दानद चश्मे-गौहर बारे-मा।

– दीवाने–गोया (ग़ज़ल 2, पृ॰11)

(याक़ूत {लाल} की पहचान लाल के आशिक़ (प्रेमी) रूपी जौहरी के सिवाय और किसी को नहीं। यह उसी प्रेमी की आँख है, जो माणिक की क़ीमत को जानती है।)

ऐसे गुरु की शिक्षाओं का मुख्य विषय-वस्तु यही होती है कि उन सभी बाहरी भेदों के, जो हमें भरमाते हैं और परेशान करते हैं, होते हुए भी, सभी धार्मिक शिक्षाओं का आंतरिक आध्यात्मिक सार एक ही है। अत:

ऐसे सत्गुरु कोई नया धर्म या रीति-रिवाज़ प्रचारित करने नहीं आते हैं, परन्तु पहले से ही अवस्थित नियमों को ही पूर्णता प्रदान करने आते हैं।

नानक सतिगुरु ऐसा जाणीऐ जो सभसै लए मिलाइ जीउ॥

– आदि ग्रंथ (सिरी राग म॰1, पृ॰72)

यदि वह किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहता है, तो वह बाहरी नाम और रूप का नहीं, अपितु आंतरिक आत्मा का। उसके लिये आंतरिक जीवन एक विज्ञान है, जो सभी धर्मों, और देशों के लोगों के लिये खुला है और जो कोई भी उसके अनुशासन का पालन करेगा, उसे सभी कुछ प्राप्त हो जायेगा।

इस प्रकार, यह आंतरिक संदेश है, जो एक सच्चे गुरु की शिक्षाओं में प्रमुख स्थान रखता है। वह ही धर्मग्रंथों के सही भावार्थ की सर्वोत्तम प्रकार से व्याख्या कर सकता है, परन्तु वह धर्म ग्रंथों के विशेषज्ञ के रूप में नहीं बोलता, बल्कि एक ऐसे महापुरुष के रूप में, जिसने उन धर्मग्रंथों में वर्णित सत्य का स्वयं अनुभव किया है। वह धर्मग्रंथों का उपयोग अपने श्रोताओं को यह विश्वास दिलाने के लिये कर सकता है कि वह जो शिक्षा दे रहा है, वह पुरातन से पुरातन है, तदापि वह उनसे बंधा नहीं रहता है और उसका संदेश बौद्धिक स्तर मात्र से ऊपर रहता है– उसका संदेश प्रत्यक्ष निजी अनुभव की जीवंतता एवं संवेग से प्रेरित होता है। कबीर साहब ने सैद्धांतिक पंडितों से कहा :

मेरा तेरा मनुआँ कैसे इक होय रे॥
मैं कहता हौं आँखिन देखी,
तू कहता कागद की लेखी।

– कबीर साहिब की शब्दावली, भाग 1 (शब्द 78, पृ.51)

जिज्ञासुओं को अन्दर विद्यमान रूहानी ख़ज़ानों के बारे में बताते हुए, वह सदा ही अंतर्मुख होने की प्रेरणा देता है :

उतहस्ब आँके जुर्म सग़ीर,
ओ फ़ीक अन तुइ अल् आलम अल् कबीर।

– अली

(क्या तुम स्वयं को केवल एक छोटा सा शरीर समझते हो, जबकि तुम्हारे अन्दर सम्पूर्ण ब्रह्मांड छिपा हुआ है?)

परमात्मा की बादशाहत केवल बौद्धिक स्तर पर अवलोकन से नहीं मिलती। वह तो पहले ही तुम्हारे अन्दर मौजूद है।

– पवित्र बाइबिल (लूका 17:20-21)

जिस साधन से यह अंदरूनी ख़ज़ाना मिलता है, उस की ओर आमंत्रित करते हुए और उसको अपनाने के लिए समझाते हुए वह कहता है :

दफ़ा कुन अज़ मग़्ज़ ओ अज़ बीनी ज़ुक़ाम,
ताकि रीह अल्लाह दर आयद दर मशाम।

– मौलाना रूमी

(अपने दिमाग़ और नाक से तू ज़ुकाम निकाल दे, ताकि हमेशा अल्लाह की गंध तेरे सूंघने की इन्द्री में समा जाय।)

यदि वह पूर्ण सत्गुरु है, तो उसकी शिक्षा में हठ-योग या अन्य ऐसे अत्यंतिक अभ्यासों पर नहीं, बल्कि आंतरिक नाद-श्रवण तथा आंतरिक ज्योति दर्शन पर बल दिया जाएगा, तथा साथ ही साथ संयम तथा आत्म-विश्लेषण के द्वारा विचारों तथा कर्मों में नियमित रूप से बाह्य पवित्रता लाने पर ज़ोर देगा और इसके लिये वह आत्म-पीड़न, तपस्या या सन्यास के स्थान पर जीवन में आत्म-संयम का मार्ग बताएगा। सत्गुरु का सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अचूक चिन्ह यह है कि न केवल उसकी शिक्षाएँ आंतरिक आत्म-विज्ञान पर ही सीमित नहीं रहेंगी, बल्कि दीक्षा के समय वह जिज्ञासुओं को आंतरिक 'ज्योति' एवं 'श्रुति' का, चाहे आंशिक ही सही, स्पष्ट एवं निश्चित अनुभव प्रदान करने में समर्थ होगा; और जब शिष्य देहाभास से ऊपर उठना सीख जाता है, तो गुरु का दिव्य ज्योतिर्मयस्वरूप बिन तलाशे ही सामने उपस्थित हो जाएगा, ताकि आगे की लम्बी यात्रा में उसका मार्गदर्शन कर सके।

आनन्द रूपु अनूपु सरूपा गुरि पूरै देखाइआ।।

– आदि ग्रंथ (मारू सोलहे म॰1, पृ॰1041)

वह गुरु, जो अंधकार– 'गु' को प्रकाश– 'रु' में नहीं परिवर्तित कर सकता, व्यर्थ है। और गुरु नानक देव जी कहते हैं :

जब लग न देखूँ अपनी नैणी।
तब लग न पतीजूँ गुरु की बैणी।।

– स्वामी जी महाराज

यदि वह गुरु सच्चा है, तो ऐसी मुक्ति का वादा नहीं करेगा, जो केवल मृत्यु के पश्चात् मिलती है। उसके अनुसार तो यह 'अभी' का और 'यहीं' का विषय है। जिस ने जीवन में मुक्ति प्राप्त नहीं की, वह मृत्यु के पश्चात् उसे पाने की आशा नहीं कर सकता। ईसा मसीह ने भी सदा ही अपने शिष्यों की जीते-जी मरने की विद्या का अभ्यास करने और उसमें दक्षता प्राप्त करने को कहा। एक सच्चा सत्गुरु आगे यही बताएगा कि अध्यात्म-विद्या एक विज्ञान है, बल्कि एक व्यक्तिपरक (subjective) विज्ञान है, जिसका सत्यापन प्रत्येक व्यक्ति अपनी शरीररूपी प्रयोगशाला के अन्दर कर सकता है और करना भी चाहिए, बशर्ते वह आवश्यक अवस्था पैदा कर सके, जो है– एक ही बिंदु पर पूर्णतः ध्यान-संकेन्द्रन। जीवन एक लगातार चलते रहने वाली प्रक्रिया है, जिसका कोई अंत नहीं है, हालाँकि यह अस्तित्व के विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूप ग्रहण कर लेता है। जैसे कोई जीवात्मा असहाय रूप से एक मंडल से दूसरे मंडल में प्रवेश पाती है, तो जिस मंडल को वह छोड़ देती है, वहाँ उसे मृत समझ लिया जाता है, क्योंकि हमें अभी उस मंडल के जीवन का कोई ज्ञान नहीं है– उसका अनुभव तो बिल्कुल नहीं– जिसमें जीवात्मा को कर्मों की तरंगों के वेग के कारण ले जाया जाता है। इसी बलपूर्वक आवागमन के बंधन से इसी जीवनकाल में आज़ाद होने के लिये सत्गुरु मार्ग प्रशस्त करते हैं। इसके लिए वे जीवों को उस अमर जीवनधारा से जोड़ देते हैं, जो पूरी सृष्टि में निरन्तर व्याप्त है, और शिष्य को उच्चतर आत्मिक मंडलों का वास्तविक पूर्वानुभव कराते हैं, यदि शिष्य आत्मा के लिये चमड़े के आकर्षणों का त्याग करने के लिए तैयार हो। तो ईसा मसीह ने कहा था, "मरना सीख लो, ताकि जीना प्रारम्भ कर सको।" जो प्रतिदिन अपने आप को मरने के लिए तैयार करता है, वह वरप्राप्त है। जिनके अन्दर अमर अविनाशी 'शब्द' गूँजता है, वे अनिश्चय की अवस्था से छूट जाते हैं, और यह वास्तव में सत्गुरु का काम है कि वह इस 'शब्द' को मनुष्य के अन्दर श्रवणीय बना दें।

नानक कचड़िआ सिउ तोड़ि ढूढि सजण संत पकिआ॥
ओइ जीवंदे विछुड़हि ओइ मुइआ न जाही छोड़ि॥

– आदि ग्रंथ (मारू की वार म॰5, पृ॰1102)

जिसको ऐसा सत्गुरु मिला है, उस पर वास्तव में प्रभु की कृपा है, क्योंकि उसने तो मा'नो प्रभु से ही मित्रता कर ली है और एक ऐसा साथी पा लिया है, जो उसे दुनिया के अंत तक भी नहीं छोड़ेगा– इस जीवन में ही नहीं, बल्कि मृत्यु के बाद भी, और जो उसका मार्गदर्शन करना तब तक नहीं छोड़ेगा, जब तक कि वह अपने अंतिम लक्ष्य तक न पहुँच जाए और उसके जैसा ही महान व असीम न बन जाय।

पारस महि औ संत में, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करै, वह करै आप समान।।

– उपदेश रत्नाकर (पृ॰64)

किसी की कैसी भी समस्या क्यों न हो, उसके पास जाने पर शांति और सुख की अनुभूति होती है और उसका सान्निध्य शक्ति प्रदान करता है और आंतरिक प्रयत्न तेज़गाम हो जाते हैं। इसीलिये जिन्हें आंतरिक मंडल में सत्गुरु के दर्शन व वार्तालाप अभी तक प्राप्त नहीं है, उनके लिये सत्संग करने की अर्थात् सच्चे सत्गुरु का संग करने की अत्यंत आवश्यकता है।

एक पूर्ण सत्गुरु की तलाश में किसी जिज्ञासु को निश्चित रूप से आलोचक और गुणदोष पारखी होना चाहिए, परन्तु एक बार उसके पाने में सफल हो जाने पर (एक सच्चा जिज्ञासु इसमें कभी असफल नहीं होगा– ऐसा दैवी विधान है) उसका उसके सत्गुरु के प्रति कैसा सम्बंध होगा? क्या सत्गुरु को पाने के बाद भी वह उसके वचनों व आज्ञा की आलोचना करता रहेगा? क्या वह अपनी विवेकबुद्धि के सूक्ष्मदर्शीयंत्र से अपने गुरु के प्रत्येक कार्यकलाप की परीक्षा करता रहेगा? प्रारम्भ में पूर्ण सत्गुरु की असलियत को निश्चित कर लेने के बाद भी ऐसी धारणा रखने का मतलब है, उसकी महानता को समझने में और उसके प्रति समुचित व्यवहार करने में असफल रहना। ऐसी महान आत्मा से मिलने का अर्थ है, अपने से अनन्त रूप से उच्चतर आत्मा से मिलना और उसे प्रभु से एकमेक हुआ जानने का अर्थ है, उसके सामने अपने आप को तुच्छ अनुभव करना और विस्मित रूप से झुके रहना। उसे अपने सीमित साधनों से समझने का प्रयत्न करना ऐसे ही है, जैसे समुद्र को किसी परखनली (test-tube) *में भरने का प्रयत्न करना, क्योंकि वह तो उन कारणों से उभार में आता है, जिनके बारे में हम कभी जान ही नहीं सकते।*

जो सत्गुरु अर्थात् मुर्शिदि-क़ामिल की शरण में लाये जाने के वरदान को समझते हैं, वे सदा ही उसकी कृपा तथा उसकी सुंदरता और सम्पूर्ण प्रेम का का गुणगान करते रहेंगे।

अगर आं तुर्के-शीराज़ी बदस्त आरद दिले-मा रा,
बख़ाले-हिन्दुवश बख़्शम समरक़ंदो-बुख़ारा रा।

– दीवाने–हाफ़िज़ (पृ.30)

(यदि वह 'सुंदर' मेरी भटकती आत्मा को अपनी छत्रछाया के तले अपने पंखों में छिपा लेता, तो उस सत्गुरु के चेहरे पर जो सुंदर सा तिल है, उसके बदले में मैं सारे संसार की बादशाहत कुर्बान कर देता।)

वह अपने सत्गुरु के कार्यों के बारे में कभी प्रश्न नहीं करेगा, भले ही वह उसे समझने में असफल हो, क्योंकि वह यह जानता है कि,

गर ख़िज़्र दर बह्र किश्ती रा शिकस्त,
सद दुरुस्ती दर शिकस्ते ख़िज़्र हस्त।।

– मौलाना रूमी

(अगर ख़िज़्र ने दरिया में किश्ती को तोड़ दिया, तो सौ तरह से ख़िज़्र की यह बात सही थी।)

उसे अपने अन्दर एक बालक जैसी आस्था पैदा करना होगा, जो अपने से प्यार करने वाले हाथों को पहचानने के बाद, उन्हीं के इशारों पर चलता रहता है और कभी प्रश्न नहीं उठाता।

जो कोई भी प्रभु की बादशाहत में बच्चे जैसा सीधा सादा होकर प्रवेश नहीं करेगा, वह वहाँ ज्ञानी होकर प्रवेश नहीं पा सकता।

– पवित्र बाइबिल (लूका 18:17)

ब-मै सज्जादा रंगीं कुन गरत पीरे-मुग़ां गोयद।
किह् सालिक बेख़बर न बवद ज़ राहो-रस्मे मंज़िल हा।

– दीवाने–हाफ़िज़ (पृ.29)

(यदि वह पूजा की वेदी को शराब से सराबोर करने को कहे, तो भी डरो नहीं, बल्कि उसका कहा मानो क्योंकि वह तुम्हारा मार्गदर्शक है– वह यात्रा की हर अवस्था को अच्छी तरह से जानता है और उसी को तुम्हें मंज़िल तक पहुँचाना है।)

सत्गुरु अथवा किसी प्रभुरूप हस्ती के रहस्यमय वचन प्रायः मनुष्यों की समझ में उलझन पैदा करते हैं। उसकी बातें कभी-कभी हमें धर्मग्रंथों से या धार्मिक आदेशों के विरुद्ध जान पड़ती हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। हमें पूरे विश्वास के साथ उनका पालन करना चाहिए– उचित समय पर उन सभी बातों की सच्चाई हमारे सामने प्रकट हो जायेगी।

बच्चे जैसा ही भक्त का प्यार होगा, नम्रता और सादग़ी से भरा। उसकी ज्योति की पवित्रता ही अकेली संसार के अंधकार व अज्ञान को हर लेगी।

गर बिगोयम अक़्लहा बरहम ज़नद,
वर नवीसम बस क़लमहा बेशिक़नद।।

– बहा'उल्लाह

(प्यार की अग्नि प्रज्ज्वलित करो और सभी वस्तुओं को उसमें भस्म कर डालो। फिर उसके बाद ही प्रेम के संसार में अपने क़दम रखना।)

हज़ारों भागों में बँटी नौका को जोड़ कर एक करो, ताकि वह प्रभु की ज्योति को लादने लायक़ हो सके। यह जिज्ञासु और उसके मित्र के बीच की जोड़ने वाली कड़ी है, और उसके माध्यम से जिज्ञासु व परिपूर्ण परमात्मा के बीच। उस अनामी और निराकार परमात्मा को कैसे प्यार किया जा सकता है, बिना सत्गुरु के माध्यम के, क्योंकि वही प्रभु का सच्चा देहधारी स्वरूप है– जैसा कि प्रभु ने मुहम्मद को प्रकट किया था :

दर ज़मीनो आसमानो अर्श नीज़,
मन न गुंजम ईं यक़ीं दाँ ऐ अज़ीज़।
दर दिले मोमन बगुजम ईं अजब,
गर मरा ख़्वाही दिलहा तलब।

– मौलाना रूमी

(मैं न आसमान पर रहता हूँ, न ज़मीन नर, न सिंहासन नर, न कुर्सी पर– मैं इनमें से किसी में भी नहीं समा सकता। मैं तो मोमिनों के दिलों में समा जाता हूँ। यह अजीब बात है कि जब तुम उनके पास जाओगे, तो वह तुम्हें राह बतायेंगे। तुम कमाई करके अन्दर जाओगे, तो उसका दर्शन कर लोगे।)

इस आध्यात्मिक मार्ग पर तर्क-बुद्धि सहायक होती है, परन्तु यही इसमें बाधक भी बन जाती है। केवल प्रेम ही उस खाई को पाट सकता है, बीच

के अन्तर को मिटा सकता है, और सीमित को असीमित से, नश्वर को अमरत्व से और सापेक्ष को परिपूर्ण से संबद्ध कर सकता है। ऐसा प्यार इस संसार का अथवा शरीर का नहीं होता। यह तो आत्मा की आत्मा से पुकार है, अपने जैसे की अपनी ओर, जैसे कि नर्क और स्वर्ग। इसके परमानंद का वर्णन भला कौन कर सकता है?

हिकायत बर मिजाजे मुस्तम अ गोयी,
अगर ख़्वाही कि दारद बा तो मैली।
हर आन आकि़ल कि बा मजनूँ नशीनद,
न बायद कर्दनश जुज जिक्र लैली।।

– शेख़ सा'दी

(यदि तुम चाहते हो कि श्रोता तुम्हारी बातें शौक़ से सुनें, तो अपनी कहानी उसकी रुचि के अनुकूल सुनाओ। किसी भी बुद्धिमान को, जो मजनूँ की संगति करता है, लैला के अतिरिक्त उससे किसी अन्य की बात नहीं करनी चाहिए।)

व इश ख़ालिया फ़ाल हब्ब राहतूह इना,
फ़ाउउलूह सक़म व आख़िरह क़तला।

– एक अरबी कविता

(प्रेम के बंधन से स्वतंत्र रहो, क्योंकि इसकी ख़ामोशी भी कष्टप्रद है।)

प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न चीन्है कोय।
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय।।

— कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (प्रेम का अंग 8, पृ.44)

वास्तव में, यह निरन्तर स्मरण ही है, जोकि प्रेम का प्राण है। जो कोई अपने प्रियतम का इस तरह से स्मरण करता है, वह अपने प्रेमी के आदेशों को भी मानता है, और सतत् अनुसरण द्वारा। ऐसे प्यार की अग्नि में अहंकार का सारा तम जल जाता है, क्षुद्र अहम् विस्मृत हो जाता है और अपने प्रियतम की बलि-वेदी पर प्रेमी अपने व्यष्टिगत जीवन का उत्सर्ग कर देता है।

यदि आप प्रेम की राह पर चलना चाहते हैं, तो पहले अपने अहम् को मिट्टी में मिला दीजिए।

– हैरात के अंसारी

प्रेम न बाडी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाइ।।

– कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (प्रेम का अंग 3, पृ.43)

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठै घर माहिं।

– कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (प्रेम का अंग 1, पृ.43)

पुनश्चः,

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जानु मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिन प्रान।।

– कबीर साखी संग्रह, प्रेम का अंग (4, पृ.44)

ऐसा आत्म-समर्पण, जिसे हम जानते हैं, उससे भिन्न महानतर और पवित्रतर आत्मन् की प्राप्ति की विरासत का प्रारूप है– इसके जादू में इतनी महाशक्ति है कि जो कोई भी उसके द्वार को खटखटायेगा, इसी के रंग में रंगा जायेगा।

आसिक मासूक ह्वै गया, इसक कहावे सोय।
दादू उस माशूक़ का, अल्ला आश़क होय।।

– दादू दयाल की बानी, भाग 1 (विरह 147)

रांझा रांझा करदी नी मैं आपे रांझा होई।

– बुल्लेशाह

ऐसे ही प्रेम के बारे में भगवान कृष्ण ने गीता में बतलाया है और सेंट पॉल ने भी अपने श्रोताओं में इसी का प्रचार किया।

ईसा के साथ मुझे भी सूली पर चढ़ा दिया गया है, परन्तु फिर भी मैं जीवित रहता हूँ। फिर भी, मैं नहीं जीता, बल्कि ईसा मसीह मेरे अन्दर जीवित रहता है। और जो जीवन अब मैं जीता हूँ, वह प्रभु के पुत्र में विश्वास का परिणाम है, जिसने मुझे प्यार किया है और जिसने अपने आप को मेरे लिये बलिदान कर दिया।

– सेंट पॉल, पवित्र बाइबिल (गलातियों 2:20)

इसी के बारे में जब सूफ़ी बात करते हैं, तो वे फ़ना-फ़िल-शेख़ या सत्गुरु में विलय हो जाने की बात करते हैं :

चुनां पुर शुद फ़ज़ाए सीना अज़ दोस्त,
किह् फ़िक्रे-ख़्वेश गुमशुद अज़ ज़मीरम।

— दीवाने—हाफ़िज़ (पृ.329)

(मेरे अन्दर जो विशालता है, वह परमात्मा के विचार से ही सुगंधि से ऐसे भर गयी है कि मेरे अपने बारे में विचार मुझ में से बिल्कुल ही निकल गये हैं।)

ईसाई अध्यात्मविद् इसी अवस्था के बारे में ज़िक्र करते हैं, जबकि वे "मर कर ईसा में लय होने" की आवश्यकता पर बल देते हैं। बिना ऐसे आत्म-समर्पण के, इसके बारे में पढ़ना लिखना कोई लाभ नहीं प्रदान कर सकता।

इल्म है इब्नल क़ताब, इश्क़ है उम्मल क़ताब।

— एक फ़ारसी का शे'र

(पढ़ना लिखना केवल धर्मग्रंथों का उत्पाद है। यह प्रेम ही है, जो उनकी जननी है।)

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एकै अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।।

— कबीर साखी संग्रह, भाग 1 (पंडित और संस्कृत का अंग 7, पृ.167)

आंतरिक बादशाह के लिये केवल ऐसा प्रेम ही कुंजी का काम करता है।

जो प्रेम करना नहीं जानता, वह प्रभु को भी नहीं जानता।

— पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 4:8)

इल्लते-आशिक़ जि़ इल्लतहा जुदास्त,
इश्क़ उस्तुरलाबे-असरारे-ख़ुदास्त।

— मसनवी मौलाना रूमी (दफ़्तर 1, पृ.43)

(आशिक़ का इश्क़ अन्य व्याधियों से प्रथक् है। सिर्फ़ इश्क़ ही दिव्य रहस्यों की गहराइयों को नाप सकता है, न कि बुद्धि।)

प्रेम से ही वह प्राप्त होता है। प्रेम से ही वह ग्रहण किया जा सकता है विचार से कभी नहीं।

— अज्ञान का मेघ

साचु कहों सुन लेहु सभै
जिन प्रेम कीओ तिन ही प्रभ पाइओ॥

– दसम ग्रंथ (अकाल उसतति, पृ॰14)

और हमारे लिए प्रभु के प्रेम को हमने जाना। प्रभु–प्रेम है। और जो प्रेमपूर्वक जीयेगा, वह प्रभु में जीयेगा और प्रभु उसमें।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 4:16)

हम उसे प्रेम करते हैं, क्योंकि पहले उसने हमसे प्रेम किया।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 4:19)

सत्गुरु और शिष्य, प्रभु-पुरुष और उसके साधक शिष्य के प्रेम के इस सम्बंध के अनेक चरण और अनेक पहलू होते हैं। यह अपने से अधिक ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति के प्रति आदर के साथ प्रारम्भ होता है। जैसे-जैसे शिष्य अपनी भलाई और विकास के लिये गुरु की निस्स्वार्थ फ़िक्र को समझना प्रारम्भ करता है, उसकी भावना प्रेम की ओस से नम्र होने लगती है, और उसमें आस्था, आज्ञाकारिता और सम्मान का भाव बढ़ने लगता है। बढ़ते हुए आज्ञापालन और श्रद्धा से शिष्य का श्रम और प्रयत्न बढ़ता है। और शिष्य के बढ़े हुए प्रयत्न के कारण सत्गुरु की ओर से अधिक स्नेह मिलता जाता है। अपना प्रयत्न और उसकी कृपा, दोनों साथ-साथ आगे बढ़ते हैं तथा एक दूसरे की वृद्धि में सहायता करते हैं। बच्चे के प्रति माता के प्यार की भाँति, गुरु का प्यार भी अपने रेवड़रूपी शिष्यों के लिये दिव्य गडरिये के प्रेम के समान होता है। माँ के प्रेम की भाँति ही यह प्रेम भी योग्य एवं अयोग्य में फ़र्क नहीं करता है, परन्तु उसके प्रेम की गहराइयाँ और उनमें छिपे ख़ज़ाने केवल उनके लिये ही खुल पाते हैं, जो उसके प्रेम को स्वीकार करते हैं और उसका जवाबी प्रेम देते हैं।

सतिगुरु सदा दइआलु है भाई विणु भागा किआ पाइऐ॥
एक नदरि करि वेखै सभ ऊपरि जेहा भाउ तेहा फलु पाईऐ॥
नानक नामु वसै मन अंतरि विचहु आपु गवाईऐ॥

– आदि ग्रंथ (सोरठ म॰3, पृ॰602)

साधक अपने अधिक श्रम और सत्गुरु के अधिक कृपा से आंतरिक साधना में तेज़ी से तरक़्क़ी करने लगता है, और शारीरिक चेतना को पूरी तरह से पार करने की ओर बढ़ता है। एक बार जब शारीरिक चेतना पार हो जाती है, तो वह अपने गुरु को दिव्य-रूप में प्रतीक्षा करते हुए सामने पाता है, ताकि वह उसकी आत्मा का आंतरिक मंडलों में मार्गदर्शन कर सके। अब जाकर, पहली बार, वह सत्गुरु को उसके वास्तविक दिव्य-रूप में देखता है और उसकी अथाह महानता का उसे कुछ भान होता है। उसके बाद ही वह शिष्य अपने सत्गुरु को मानव से ऊपर पहचानता है और उसका हृदय उसकी प्रशंसा और विनम्र भक्ति के गीतों से भर जाता है। अपनी आध्यात्मिक यात्रा में वह जितना ऊँचा उड़ता जाता है, उतना ही अधिक वह उस सत्गुरु की प्रशंसा में अनुग्रहीत होता जाता है, क्योंकि वह उतनी ही दृढ़ता से यह जान पाता है कि जिसे कभी वह केवल मित्र समझता था, वह केवल मित्र ही नहीं है, अपितु स्वयं परमात्मा ही है, जो उसे अपने आप तक उठा लेने के लिये उसके स्तर तक नीचे आया था। प्रेम का यह बंधन धीरे-धीरे विकसित होते हुए उसकी आंतरिक तरक़्क़ी का दर्पण बन जाता है और सीमित से असीमित की ओर बढ़ता चला जाता है।

प्रेम शरीर से प्रारम्भ होता है, और उसकी परिणति आत्मा में जाकर होती है।

– क्लेरवो के सेंट बर्नार्ड

अपने प्रारम्भिक चरण में, इसकी तुलना सांसारिक प्रेम से की जा सकती है, जैसे कि माता-पिता तथा बच्चे के बीच में, मित्र-मित्र के बीच में, प्रेमी और प्रेमिका के बीच में, गुरु और शिष्य के बीच में, परन्तु एक बार यदि साधक उस बिंदु पर पहुँच जाये, जहाँ जाकर शिष्य अपने गुरु को अपने अन्तर में ही उसके दिव्य नूरी-स्वरूप में देखता है, तो उस अवस्था में प्रेम की सभी उपमाएँ और तुलनाएँ सदा के लिये समाप्त हो जाती हैं, केवल संकेत और मूक शांति ही शेष रह जाती है।

ख़ुश्तर आँ बाशद कि सिर्रे दिलबरान,
गुफ़्ता आयद दर हदीसे दीगरान।

फ़ित्नओ आशोबो ख़ूरेज़ी मजो,
बीश अज़ इन शम्स तबरेज़ी मगो।

– मौलाना रूमी

(आओ, कुछ और तरह से प्रेम के रहस्यों को लिखें, जो पहले से बेहतर हों। रक्त और कोलाहल को त्यागो, और अन्य सभी को भी, क्योंकि शम्स तबरेज़ के बारे में अब कुछ भी कह पाना सम्भव नहीं रहा।)

षष्टम अध्याय

धर्म का सारांश

पिछले *अध्याय में हमने 'सुरत-शब्द योग' की मुख्य बातों को रेखांकित किया और इसके प्रमुख लक्षणों का संक्षिप्त परीक्षण किया। हमने देखा कि जब परमात्मा ने अपने आपको सृष्टिरूप में अभिव्यक्त होने का संकल्प किया, तो उसने किस प्रकार से शब्द (वर्ड), 'नाम', उद्‌गीथ, कलमा, सौत अथवा स्रोशा का रूप ले लिया। ये पारिभाषिक शब्द मात्र उस प्रभु की दिव्य-संकल्प (इच्छा) या कारण आदि के लिए नहीं, बल्कि उससे भी अधिक, किसी ऐसी ऐसी सत्ता के लिए हैं, जोकि दिव्य ज्योति से प्रज्ज्वलित और देदीप्यमान दिव्य-संगीत की एक आत्मिक धारा है। यह धारा समस्त सृष्टि के केंद्र में स्थित है तथा इसमें से अनेक मंडल उत्पन्न हुए हैं और वही सत्ता उन्हें जीवंत भी करती है और संभाले भी हुए है। कोई भी व्यक्ति किसी ऐसे सत्गुरु की मार्गदर्शिता में, जिसने उस राह पर जाने की विधि पर अधिकार प्राप्त किया है, अंतर्मुख होकर इस धारा से सम्पर्क स्थापित कर सकता है, भौतिक मंडल को पार कर सकता है और धीरे-धीरे सभी सापेक्षिक मंडलों से ऊपर उठता जाता है। और जब वह उसके साथ एकमेक हो जाता है, तो अपने वास्तविक स्रोत में वापस पहुँच जाता है, और इस प्रकार वह सभी सीमित दायरों से ऊपर निकल जाता है और असीम चेतनता और परिपूर्ण सत्ता को प्राप्त हो जाता है।*

इस बात को दर्शाने के लिए कि परा-विद्या की यह शिक्षा दीक्षा किसी एक देश या आयु वर्ग के लोगों के लिए सीमित नहीं है, प्रत्युत समस्त मानव जाति के लिए समान रूप से उपलब्ध है, पिछले अध्यायों में इसके सभी महत्त्वपूर्ण पक्षों की व्याख्या करने के लिए संक्षिप्त रूप से विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के संतों के उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें भारतीय,

इस्लामी और ईसाई धर्म परम्परा सम्मिलित हैं। फिर भी, ये उक्तियाँ केवल दृष्टांत्मक संदर्भ में ही कही गई है। यदि 'सुरत-शब्द योग' की शिक्षाएँ वास्तव में विश्वव्यापी हैं और वे परिपूर्ण सत्य की ओर इंगित करती हैं और मतांधता पर ही आधारित न होकर, केवल उन तथ्यों पर ही आधारित हैं, जो पारभौतिक प्रकृति के हैं, परन्तु फिर भी किसी भी ऐसे व्यक्ति के द्वारा, जो उसके अनुशासन पर चलने को तैयार हो, निरीक्षण परीक्षण करके सत्यापित किए जा सकते हैं, तो एक खोजी जिज्ञासु निश्चयपूर्वक दृढ़ता से कहेगा कि ये शिक्षाएँ, किसी न किसी रूप में, संसार के सभी धर्मों में विद्यमान हैं और जितना 'सुरत-शब्द योग' के बारे में पिछले अध्यायों में वर्णन किया गया है, वह उससे भी अधिक व्यवस्थित वर्णन देखना चाहेगा। इस विषय का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक की सीमा से परे है। जो इस क्षेत्र में और आगे बढ़कर अध्ययन करना चाहेंगे, उन जिज्ञासु जनों की और अधिक जानकारी के लिए हम केवल कुछ लाभप्रद सुझाव ही दे सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह विषय, संसार के सभी महान सत्गुरुओं, महापुरुषों का सदा से ही शिक्षा का मुख्य विषय रहा है, उनकी शिक्षाएँ सार्वभौमिक हैं और विश्व के विस्तृत आध्यात्मिक साहित्य के द्वारा उनका सत्यापन किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति स्वयं को केवल उसके साहित्य के बौद्धिक व्याख्यानों तक ही सीमित रखेगा, तो वह उनकी शिक्षाओं के वास्तविक अभिप्राय से वंचित रह जाएगा। जिज्ञासु को कुल मिलाकर केवल इतना ही करने की आवश्यकता है कि वह पुरातन धर्मग्रंथों से यह सुनिश्चित कर ले कि उसे जो कुछ भी शिक्षा दी जा रही है, क्या वह पुरातन से पुरातन सच्चाई है, जिससे वह बिना किसी शंका और पूरी आस्था से उस अनुशासन को अपना सके। अन्तिम सत्यापन तो केवल स्वयं के प्रत्यक्ष और निजी आन्तरिक अनुभव का ही विषय होना चाहिए। यह केवल पुस्तकीय ज्ञान का विषय नहीं है। पुस्तकीय ज्ञान को यदि उसकी उचित सीमा से आगे ले जाया जाए और उसी को अपने आप में अंतिम उद्देश्य बना लिया जाए, तो वह अपने प्रारम्भिक उद्देश्य को ही समाप्त कर देगा और वास्तविक लक्ष्य से हटाने वाला एक गंभीर अवरोधक बन जाएगा।*

* *अधिक जानकारी के लिए, पाठकजन को इसी लेखक के द्वारा लिखित पुस्तक, 'नाम या शब्द'* ('Naam or Word') *पढ़ने के लिए आमंत्रित किया जाता है।*

I. पुरातन धार्मिक विचारधाराएँ– भारतीय, चीनी व इरानी

1. हिंदू धर्म

हिंदू धर्म प्राग्इतिहास के उदय से पूर्व, प्राचीनतम काल से चले आ रहे धार्मिक चिंतन का एक विशाल महासागर है, जिसमें धार्मिक चिंतन अपने विभिन्न रंग-रूपों में, तरह-तरह के छायांतर आवरणों में, अनन्त रूपों और प्रतिकृतियों की विविधता में, जिस रूप में वह मानव मन में विकसित होता गया– पशुवाद से प्रकृति की पूजा तक, अमूर्त प्राकृतिक शक्तियों से सगुण व्यक्तिवाद तक, मूर्त प्राकृतिक शक्तियों, देवी-देवताओं से लेकर एक सर्वोच्च प्रभु तक, पहले व्यक्तिगत और तत्पश्चात अव्यक्तिगत रूप में, साकार से निराकार तक, सम्मिलित है। हिंदू परम्परा किसी जिज्ञासु खोजी को, जोकि सुदूर अतीत के धुंध को भी पार करता है, एक विस्तृत एवं सशक्त चिंतन परम्परा प्रस्तुत करती है।

संसार में सूर्य की उपासना का प्रचलन प्रायः एक आम बात रही है। सूर्य सदा से ही मनुष्य के लिए पूजा और आराधना का महान विषय रहा है। अनादिकाल से सारे संसार में ही उसकी पूजा और आराधना होती चली आई है। पुरातन यूनानी (ग्रीस देश निवासी) और रोमी (रोम देश निवासी) लोगों ने अपोलो (Apollo) अथवा फ़ोईबस (Phoebus) (जैसा कि वे सूर्य देवता को अपने समयों में कहते थे) की पूजा उपासना के लिए मंदिर बनवाए। उनके सभी मंदिरों में सूर्य देवता के मूर्ति या अन्य प्रतिनिधि चित्रों का उनके आदर-श्रेणी में मुख्य स्थान होता था। दक्षिणी भारत के कोणार्क का एक प्रसिद्ध सूर्य-मंदिर है तथा उत्तर में मुल्तान के ऐतिहासिक नगर ('मुल्तान' का अर्थ है– सूर्य की धरती) में भी एक सूर्य मंदिर है। जोगमाया या जोतमाया मंदिरों से तो सारा भारतीय उप-महाद्वीप ही भरा पड़ा है।

पुरातन यूनानी लोगों ने भी 'शब्द' के बारे में कहा है। सुकरात के लेखों में मिलता है कि उन्हें अपने अन्दर एक विशिष्ट ध्वनि सुनाई दी, जो उनकी आत्मा को उच्चतर आत्मिक मंडलों में खींचकर ले गई। पाइथागोरस (Pythagoras) ने भी 'शब्द' के बारे में बात की है और

उन्होंने प्रभु को 'प्रकृति की स्वरलहरियों का परम संगीत' कहा है। उनके लिए प्रभु 'ज्योति के आवरण में लिपटा परिपूर्ण सत्य' था। जब उन्होंने आकाश में चक्कर काटते एक उकाब को आज्ञा दी कि वह नीचे उतर आए तथा जब एक रीछ को आज्ञा दी कि वह अपुलिया का विनाश न करे, तो आश्चर्य से भरे लोगों की भीड़ ने जब उनसे उनके शक्ति के स्रोत के बारे में पूछा, तो उन्होंने बताया कि उन्हें ऐसी दिव्य शक्तियाँ 'ज्योति के विज्ञान' से प्राप्त हुई हैं।

यूनानी (ग्रीक) भाषा में हमें एक आध्यात्मिक शब्द 'लोगोस' ('Logos') मिलता है। यह मूल शब्द 'लेगो' ('lego') से निकला है, जिसका अर्थ है, बात करना और इसी से आम बोलचाल के शब्द 'monologue' (एकाल. ाप), 'dialogue' (द्वयालाप), 'prologue' (प्रालाप, प्रस्तावना), 'epilogue' (उपसंहार) इत्यादि शब्द बनते हैं। 'लोगोस' शब्द का अर्थ है 'शब्द' या 'तर्क'। लोगोस शब्द यहूदी और ईसाई मतों के दर्शन और सिद्धांतवाद में भी प्रयुक्त होता है। यूनानी और नव-अफ़लातूनी दार्शनिक भी इस शब्द का प्रयोग इसके रहस्यात्मक अर्थ में करते हैं। ईसाई इसका प्रयोग 'Trinity' या त्रिपुटी (त्रयत्ववाद) के मध्यपुरुष वाचक के रूप में करते हैं।

पश्चिमी विश्व में पुरातन लोगों ने इस संकल्पना को अपने पूर्वजों से वंश परम्परा के रूप में पाया। ये लोग ईसा से हजारों वर्ष पूर्व बड़ी श्रद्धा से सूर्य की उपासना करते थे, और प्रभु की असीम शक्ति की खोज में समस्त मानवीय प्रयासों के अंतिम परिणति के रूप में और उसे पृथ्वी पर उसका दृश्य प्रतिनिधि मानकर उसको पूजते थे। वे पूर्व अथवा पश्चिम में जहाँ भी गए, इस विचारधारा को साथ ले गए और उन्होंने इस दिव्य वृत्त की प्रशंसा में स्तुति गीत लिखे तथा मंत्रों की रचना की, जिसे इस ग्रह पृथ्वी पर उत्पन्न सकल जीवन का आदि स्रोत कहा गया। जो ईरान (फ़ारस) में जा बसे, और बाद में (भारत आकर) 'पारसी' कहलाए, वे अभी भी इस महान देव की एक अन्य रूप– अग्नि के रूप में पूजा करते हैं, जिसे वे अपने मंदिरों में हर समय जलाए रखते हैं, जो मानव हृदय में जलती उस ज्योति की प्रतीक है, जो सदा ही स्वर्ग की ओर लपट बनकर उठती रहती है। ईरान के जीवन और ज्योति के पैग़ंबर रातु ज़रतुश्तु ने

भी ज्योतिमय प्रभु की महानता के प्रेमपूर्ण एवं जीवंत आस्था में गीत गाए और लोगों को भी वैसा ही करने की शिक्षा दी।

*अग्नि देवताओं को उपलब्ध एक गुप्त रहस्य था, जिन्होंने इस रहस्यमयी शक्ति को बड़ी ईर्ष्यापूर्वक सुरक्षित रखा। यूनान की एक पौराणिक गाथा के अनुसार, इसे प्रोमिथियस (**Prometheus**) ने चुराकर मनुष्यों को दे दिया, जिससे नाराज़ होकर देवों के पितृदेव बृहस्पति (**Jupiter**, द्यौ = आकाश + पितर्) ने उसे पकड़कर शाश्वत प्रताड़णा में डाल दिया।*

छांदोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में इसी अग्निदेव को प्रथम तत्व माना गया है, जिससे जल, पृथ्वी आदि अन्य तत्वों की उत्पत्ति सम्भव हुई।

आर्यों की दूसरी शाखा ने, जोकि पूर्व की ओर सिंधु-गंगा के मैदानों में जा बसी, इसे प्यार से 'आदित्य' कहकर संबोधित किया। वेदों में हमें स्रोत मंत्र मिलते हैं, जिनमें सूर्य को 'हिरण्यगर्भ', 'सविता' और 'उषा' कहकर संबोधित किया गया है, जो सभी एकमात्र जीवनदाता प्रभुसत्ता के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। वैदिक युग के सभी महर्षिगण सूर्य देव के पवित्र करने और स्वास्थ्यकारी गुणों के प्रशंसक थे, और इस प्रकार आश्चर्य नहीं कि इन्हीं गुणों और विशेषताओं के कारण हमें वैदिक साहित्य में अनेक स्रोत मंत्र मिलते हैं, जिनमें सूर्य को देवत्व पद पर स्थापित किया गया है।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

– ऋग्वेद (म॰10, सू॰121, मंत्र 1,7)

(आदि में हिरण्यगर्भ प्रकटे, जो सृष्टि के सभी प्राणियों के केवलमात्रा अकेले ही स्वामी हैं। उन्होंने पृथ्वी और स्वर्ग को स्थापित करके ग्रहण किया फिर हम किस देव की उपासना करें और किसे हवि दें? किस समय शक्तिशाली जल प्रकटा जिसमें विश्व के बीजरूप प्राणी निहित है, जिससे अग्नि की उत्पत्ति हुई? जिसमें से प्रभु की एक आत्मा प्रकाश में आई, तो भला हम किस देव की उपासना करें और हवि देवें?)

एक दूसरे श्लोक में उसे 'स्व:प्रकाशवान ज्ञानी आदित्य' कहकर संबोधित किया गया है।

पुस्तक I.113.16 *में हमें उषा की प्रार्थना में जो स्रोत मिलता है, उसमें निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं :*

विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव।

(सविता देव! हमारी समस्त बुराइयों को दूर कर और जो कल्याणकारी है, उसे हमें प्राप्त करा।)

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥

– ऋग्वेद (म॰1, सू॰113, मंत्र 16)

(जैसे यह प्रात:काल की उषा सब प्राणियों को जगाती है हुई अंधकार को निवृत्त करती है और जैसे सायंकाल की उषा सबको कार्यों से निवृत्त करके सुलाती है अर्थात् माता के समान सब जीवों को अच्छे प्रकार पालन कर व्यवहार में नियुक्त कर देती है, वैसे ही सज्जन विदुषी स्त्री होती है।)

ये ज्योति आई है, जो सभी ज्योतियों में सर्वोपरि है। जाज्वल्यमान तेज का उदय हुआ है, जिसमें से दूर दूर तक प्रकाश फैला है। उषा जगने को है। रात्रि चली गई है, प्रभात का जन्म सन्निकट ही है। प्राण, पुन: हम तक आ पहुँचे हैं। अंधकार दूर चला गया है; प्रकाश छा रहा है। उस उषा ने सूर्य के लिए आकाश यात्रा का रास्ता छोड़ दिया है। जहाँ मनुष्य अपने अस्तित्व को बढ़ा रहे हैं, हम वहाँ आ पहुँचे हैं।

शाब्दिक स्तर पर इस प्रकार की सूर्य-पूजा को प्रकृति-आराधना से शायद ही कुछ अधिक माना जा सके। यह अपने अस्तित्व के लिए कृषि पर निर्भर रहने वाले लोगों के लिए यह स्वाभाविक लगता है। परन्तु, पुरातन भारतीय साहित्य में एक दुर्ग्राह्य विशेषता है। यह हमें एक स्तर पर कुछ सिखाती हुई प्रतीत होती है, परन्तु जब हम उस स्तर पर पहुँच जाते हैं, तो यह सहसा अगले स्तर तक बढ़ जाती है। जो कोई इसकी सूक्ष्मता का अनुसरण कर पाता है, वह इसमें एक ऐसा समृद्ध चिंतन पाता है, जोकि अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें अर्थों की विविधता है, जो स्थूल मंडल से सूक्ष्म ब्रह्मांडीय तथा आत्मिक मंडल तक, और शाब्दिक स्तर से प्रतीकात्मक और

गूढ़ स्तर तक ले जाती है और हमें अनुभव के अनेक स्तरों पर चुनौती देती है, और हमें उचित पारितोषिक भी देती है। इस तरह, जब हम इन बारंबार आने वाले सूर्य सम्बंधी संदर्भों को पढ़ते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि जिस सूर्य की बात बारंबार कही गई है, वह मात्र हमारे स्थूल प्राकृत ब्रह्मांड का केंद्र ही नहीं है, जैसा कि हम पहले समझते थे। अतः ईश उपनिषद् में बतलाया गया है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

– ईशावास्योपनिषद् (15)

(आदित्य मंडल स्थित ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिये उसे उघाड़ दे।)

ऐसे वर्णनों को दृष्टि में रखते हुए जब हम परमोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए ज्योतिस्वरूप– ज्योति से भरपूर तथा प्रकाशवत्– उज्ज्वल, वैभव से भरपूर आदि संबोधनों को पढ़ते हैं, तो इन संदर्भों में हम एक गूढ़ संकेत खोजना प्रारम्भ करते हैं, जिनके अभिप्राय की हमने पहले उपेक्षा कर दी थी। जब हम ऋग्वेद के 'गायत्री मंत्र' पढ़ते हैं, तो यह बात पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाती है :

ऊँ भूर्भुवः स्वः।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्।।
परो रजसे सावदोम्।।

– गायत्री मंत्र, ऋग्वेद (म॰3, सू॰61, मंत्र 10)

(ऊँ जगदोत्पादक! दिव्यगुणयुक्त ईश्वर के उस ग्रहण करने योग्य तेज को हम धारण करें, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे।)

पवित्र 'ऊँ' का उच्चारण करते हुए, तीनों स्थूल, सूक्ष्म और कारण मंडलों से ऊपर उठो और आंतरिक ज्योति, ब्रह्मज्योतिस्वरूप सूर्य में अपनी चेतना और ध्यान को संकेन्द्रित करो। उसके विश्वव्यापी प्रभामंडल के प्रभाव में अपने को तल्लीन कर दो। वह अपनी ही तरह से तुम्हें भी परम प्रकाशवान निर्मल आत्मज्योतिरूप बना लेगा।

वैदिक साहित्य में यह 'गायत्री मंत्र' परम पवित्र मूलमंत्र माना जाता है और हिंदुओं को बचपन से ही उच्चारण करने के लिए इसे सिखलाया जाता है। यहाँ पर, 'सूर्य' का आंतरिक आध्यात्मिक अर्थ बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। पूजा उपासना का उपास्य वह नहीं है, जो हमें बाहरी विश्व में प्रकाश प्राप्त कराता है, बल्कि वह एक सिद्धांत है, जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण- अस्तित्व के तीनों लोकों से पार ले जाता है तथा आंतरिक प्रकाश का स्रोत है। इसी सिद्धांत को 'ॐ' (ओ३म्) कहा गया है, जिसके तीन अक्षर मानव जीवन के अनुभव के तीन अवस्थाओं को इंगित करते हैं। 'अ' से तात्पर्य जाग्रत अवस्था से है, 'उ' से तात्पर्य स्वप्नावस्था से है और 'म' से तात्पर्य सुषुप्ति अवस्था से है। अंतिम सत्य मानव इनुभव की इन तीनों अवस्थाओं को तथा तीनों मंडलों को समाहित करके हुए उन सभी से आगे स्थित है। 'ॐ' के प्रत्येक उच्चारण के पश्चात् जो शांति दी जाती है, वह तुरीय पद अर्थात् परिपूर्ण अस्तित्व की वाचक है, जोकि सभी का अवर्णनीय स्रोत है तथा सभी का अंत भी है। यह ब्रह्म है, जो सभी से परे है, और जिसका प्रमुख गुण ज्योति है, परन्तु जो स्वयं उससे भी परे है। अतः मूल ऋग्वेद में इस मंत्र में एक पंक्ति और जोड़ी हुई है, जोकि केवल संन्यासियों को अथवा अन्य चुनिन्दा शिष्यों को ही दी जाती है :

परो रजसे सावदोम्।

(वह जो प्रकाश के भी पार जाता है, 'ॐ' है।)

गायत्री न केवल वैदिक साहित्य में सूर्य के संदर्भों के नित्यक्रमिक तात्पर्यों को स्पष्ट कर देता है, वरन् यह हिंदू चिंतन में एक अन्य धारणा को भी उजागर करता है। इसकी व्यापक लोकप्रियता तथा निरूपण हमारे सामने भारतीय धार्मिक परम्परा में मंत्रों के प्रयोग और उनके रीति-रिवाज़ों में स्थान से संबंधित प्रश्न उपस्थित करता है। संस्कृत गद्य या पद्य में मंत्र अर्थात् मौखिक सूत्र दो प्रकार के होते हैं : कुछ तो ऐसे हैं, जो केवल जपने या उच्चारण के लिए हैं, जिनका अर्थ जानना आवश्यक नहीं है। दूसरे ऐसे हैं, जो दिव्य स्तुतियाँ हैं, जिनका अर्थ जानना आवश्यक है, ताकि भक्त अपने इष्ट पर ध्यान केंद्रित रख सके। प्रत्येक मंत्र का अपना-अपना विशिष्ट लाभ है। कुछ ऐसे मंत्र हैं, जिनकी सिद्धि से निचले क्रम की (तामसिक) चमत्कारी शक्तियों से संपर्क स्थापित हो जाता है।

दूसरे प्रकार के मंत्र हैं, जो (राजसी) साहस और बल प्रदान करते हैं। और अंत में, कुछ मंत्र ऐसे (सात्विक) हैं, जिनका उद्देश्य आत्मिक उन्नति मात्र हैं। सात्विक मंत्रों में, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, गायत्री मंत्र सर्वाधिक सम्मानित है।

अनादि काल से ही मंत्रों के प्रयोग में ध्वनि के आध्यात्मिक महत्त्व पर ज़ोर दिया जाता रहा है। यदि कुछ निश्चित मौखिक उच्चारण से चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं या आत्मिक उन्नति में सहायता मिलती है, तो शब्द की ध्वनि में ही एक गुह्य शक्ति निहित होनी चाहिए। इसीलिए, वाणी की देवी, 'वाग् (वाक्) देवी' को उच्च आदर दिया जाता रहा है। प्रत्येक शब्द का अपना अद्वितीय चरित्र और महत्त्व है, परन्तु सभी शब्दों में 'ॐ' परम् पवित्र है। हमने पहले ही ॐ के कुछ सांकेतिक अर्थों का परीक्षण किया है। इनमें हम कुछ और भी जोड़ सकते हैं। यह ॐ शब्द स्वयं में परिपूर्ण ब्रह्म के गुणों को ही नहीं परिलक्षित करता, अपितु यह एक ऐसा शब्द है, जो स्वयं ही ब्रह्म का वाचक है। ऋग्वेद में कहा गया है :

प्रजापतिर्वै इदमग्रमासीत्,
तस्या वाक् द्वितीयो आसीत्,
वाग्वै परमं ब्रह्मः।

– सामवेद (ताण्ड्य महाब्राह्मण 20:14.2)

(सृष्टि के आदि में सृष्टिकर्ता, प्रजापति ब्रह्म था। उसके साथ 'वाक्' या 'शब्द' था और वाक् ही वास्तव में परम् ब्रह्म था।)

यह उक्ति उल्लेखनीय रूप से सुसमाचार (गौस्पेल्ज़) के आरंभ में सेंट जॉन के कथन से समानांतर रूप से मेल खाती है :

आदि में शब्द था, और शब्द परमात्मा के साथ था और शब्द ही परमात्मा था।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 1:1)

इस प्रकार 'ॐ' ही ब्रह्म है, जोकि स्वयं ही 'शब्द' के रूप में प्रकट हुआ। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसे 'ब्रह्म का आवरण' कहा गया है, जोकि ब्रह्म से जीवन पाता है और उसे अपने अन्दर समोये रखता है :

ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः।

– तैत्तिरीय उपनिषद् (IV:1)

(आप, आदित्य बुद्धि से ढके ब्रह्म का आवरण हैं।)

सामवेद में इस पक्ष को और अधिक स्पष्ट किया गया है :

द्वे वा व ब्रह्मणी अभिध्येये शब्दश्चाशब्दश्च
अथ शब्देनैवाशब्दमाविष्क्रियते अथ तत्र ओमिति...
द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।

– मैत्रयणी (मैत्री) उपनिषद् (6:22)

(दो प्रकार के ब्रह्म हैं- 'शब्द' ब्रह्म तथा 'अशब्द' ब्रह्म। अशब्द ब्रह्म के द्वारा ही विदित होता है। अशब्द ब्रह्म में नहा कर ही सर्वोच्च ब्रह्म अर्थात परब्रह्म को पाया जा सकता है)

दूसरे शब्दों में, परिपूर्ण प्रभु केवल आंतरिक ज्योति ही नहीं है, अपितु उससे आगे भी है, जैसा कि गायत्री मंत्र में सुझाया गया है। वह शब्द के साथ है– 'शब्द' यानी 'ॐ'– और फिर भी, उससे आगे है। वास्तव में, 'ज्योति' और 'ध्वनि' ('श्रुति') दोनों ही उसके प्रमुख व्यक्त स्वरूप माने गए हैं। गायत्री मंत्र में परामर्श दिया गया है कि दिव्य शब्द 'ॐ' पर ध्यान एकाग्र करते समय हम अपने ध्यान को आंतरिक सूर्य पर केंद्रित रखें, जबकि छांदोग्य उपनिषद् (III:17:6 तथा 19:3) तथा ऋग्वेद (8-6:30 तथा 1-15:10) में हमें बताया गया है कि नाद या दिव्य संगीत ब्रह्मांड के सूर्य से प्रकट हो रहा है। यह वह रहस्य था, जो अंगिरस ऋषि ने देवकी नंदन को दिया था।

यह वह आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि थी, जो 'श्रुति' अर्थात् आंतरिक श्रवण द्वारा प्राप्त धर्मग्रंथों से मिलती है। इसी से 'स्फोटवाद' अथवा शब्द का दर्शन विकसित हुआ। इस मार्ग के गुरुओं ने यह शिक्षा दी कि परिपूर्ण सत्ता अशब्द है, छायारहित है, अवर्णनीय है तथा अप्रतिबंधित है। जब वह अभिव्यक्ति में आया, तो उसने स्वयं को 'स्फोट' अर्थात् शब्द के रूप में प्रकट किया, जोकि अनन्त ज्योति ओर अवर्णनीय संगीत से भरपूर था। यदि कोई जिज्ञासु सापेक्षिक मंडलों को पार करना चाहे, तो उसे स्फोट या शब्द सत्ता के साथ संपर्क स्थापित करना होगा, जिसके द्वारा वह ब्रह्म तक पहुँच सकता है, जोकि शब्द या स्फोट से परे है। प्रभु से साक्षात्कार करने का रास्ता निश्चित रूप से आसान नहीं है। इस मार्ग तक पहुँचना कठिन है,

इसे पहचानना कठिन है, इसके अनुशासन पर चलना कठिन है, और इसे पार करना भी कठिन है, परन्तु फिर भी यही एकमात्र सम्भव रास्ता है– उसके लिए, जो अपने गुरु के प्रति और अपने उद्देश्य के प्रति सच्चा हो।

वास्तव में ये वे सच्चाइयाँ हैं, जिनका प्राचीन भारत में वनों में रहने वाले ऋषियों-मुनियों द्वारा अभ्यास किया जाता था एवं सिखाया जाता था। परन्तु, उनमें से कितने अब तक क़ायम हैं? उनमें से अधिकतर को आज हम रीति-रिवाज़ों के रूप में ही देखते हैं– जैसे शंख बजाना, घंटियाँ बजाना, आरती के समय दीपकों सें आरती उतारना और सूर्य नमस्कार। ये सब हमारे अन्दर में विद्यमान रहस्यों के प्रतीक हैं, परन्तु वे लोग कितने हैं, जो उनके वास्तविक अर्थ के प्रति सजग हैं? भगवान् श्री कृष्ण के सशक्त और दूरगामी प्रभाव के होते हुए भी, जिसके कारण वैदिक शिक्षाएँ सारांश रूप में साधारण जनमानस के हृदय तक पहुँची, अन्य स्थानों की तरह भारत में भी धर्म में गिरावट होते-होते यह केवल जातिवाद और रीति-रिवाज़ों तक ही सीमित होकर रह गया है। बाहर के ज्योति और संगीत की पूजा होती है, परन्तु अन्तर के ज्योति व संगीत के प्रति, जिनकी ओर वे संकेत करते हैं, लापरवाही बरती जा रही है :

> **अंधेरे के भीतर ज्योति पुकारती रहती है, परन्तु अंधकार उसे पहचानता ही नहीं।**
>
> – पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 1:5)

2. बौद्ध मत

भगवान बुद्ध की शिक्षाएँ कई प्रकार से वैदिक धर्म की धार्मिक परम्पराओं के, जिनमें से कई विकृत थीं, विरोध में एक प्रतिक्रिया का प्रतिनिधित्व करती हैं, परन्तु फिर भी वे वेदों के जिन मूल सिद्धांतों का हमने अभी परीक्षण किया है, समर्थन करती हैं। बुद्ध का जीवन ही स्वयं एक ऐसी महान गाथा बन गया है, जिसमें मुनष्य के लिए बाहरी दुनिया से हटकर अंतर्मुख होने की आवश्यकता जीवंत तथा प्रभावशाली रूप में उजागर होती है। अपने राजसी वैभव तथा सांसारिक जीवन के सभी सुख-सुविधाओं को छोड़कर सत्य की खोज में एक भिक्षुक की भांति वनों में जाना, अपने आपमें अभूतपूर्व त्याग था। उनका छः वर्षों तक जंगलों में भटकना, सभी

प्रकार के शारीरिक कष्ट सहना और शरीर का सुखाकर मात्र हड्डियों का ढाँचा रह जाना– वास्तव में उनके द्वारा किया गया वीरतापूर्ण साहसिक कार्य था, जिनसे हमारे अन्दर बरबस ही उनके प्रति गहरी प्रशंसा तथा श्रद्धा पैदा करती हैं। परन्तु, उन्हें न तो घर का आरामदायक जीवन और न ही जंगल की तपश्चर्या, दुख, बीमारी, कष्ट और मृत्यु की समस्या को, जैसा उन्होंने साधारण जनता के बीच में व्याप्त होते देखा था, हल करने में सहायक हो सकी। अपने तपस्वी जीवन को भी त्यागना उनके जीवन का ऐसा ही एक क्षणिक फ़ैसला था, जैसा कि उन्होंने पहले गृहत्याग करते समय भी किया था। गया में बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर शांत ध्यानमुद्रा में उन्होंने अपने आपको उस दैवीय प्रभाव के हवाले कर दिया, जो स्वयं ही कार्यरत रहता है, जब व्यक्ति अपने अहम् को पूर्ण रूप से प्रकृति में सबसे पवित्र और सबसे महान सत्ता के आगे समर्पित कर देता है, और तब अचानक ही उनके दिव्य-चक्षु पर जीवन के अत्यन्त उलझन भरे प्रश्नों के उत्तर एक के पश्चात् एक करके कारण एवं प्रभाव के रूप में उपस्थित होते चले गए : 1. कि जीवन में दुख अवश्यमेव है। 2. दुख के कारण। 3. इस कारण के निदान की संभावना। 4. दुख निवारण से मुक्ति का मार्ग। यह एक 'स्वर्णिम मध्यमार्ग' था, जो सांसारिक सुखों को भोगने अथवा उनका त्याग कर तपस्वी जीवन बिताने– दोनों के बीच का रास्ता था, क्योंकि ये दोनों ही रास्ते एक जैसे कष्टदायक थे और सत्य की खोज में उनसे कोई लाभ नहीं था। इसलिए इस मार्ग का नाम मध्यम-मार्ग रखा गया, जिसमें जीवन के आठ पक्षों में सत्य को धारण करना था, जिनका वर्णन पुस्तक के पिछले भाग में पहले ही किया जा चुका है।

संक्षेप में, महात्मा बुद्ध के सारनाथ में दिए गए पहले उपदेश का यही सार था, जो उन्होंने पहले पाँच भिक्षु शिष्यों को दिया था। साधारण एवं स्पष्ट तथा ब्राह्मणों के, जिन्होंने अनुष्ठानों एवं रीति-रिवाज़ों को ही मनुष्य की मुक्ति का पूर्ण एवं अंतिम साधन बना दिया था, पांडित्यपूर्ण शैली से मुक्त शिक्षा का लोगों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं कि इस नए मत में अधिकाधिक संख्या में लोगों ने प्रवेश

** इस सम्बंध में विस्तृत विवरण के लिए इसी लेखक द्वारा लिखित 'नाम या शब्द' में "विभिन्न धर्मों से प्रमाण" का अध्याय देखें।*

किया, जिनमें राजाओं से लेकर साधारण मनुष्यों तक सभी प्रकार के लोग शामिल थे, जिन्होंने कषाय वस्त्रों को बड़ी उत्सुकता से धारण किया।

बुद्ध से पहले और बाद के संसार के सभी धर्मों के समान ही यह बौद्ध मत का भी बाहरी पक्ष है, जो आम लोगों में यह बड़ा लोकप्रिय हुआ, क्योंकि जीवन और ज़िंदग़ी जीने के मार्ग के बारे में इसमें बड़ा स्पष्ट मार्गनिर्देशन था। कठिन व उलझन भरी वैदिक पहेलियाँ, वैदिक देवकुल एवं वैदिक पूजा पद्धति को एक ही बार में दरकिनार कर करके पीछे छोड़ दिया गया और लोगों को बतलाया गया कि वे अपने आचरण को सुधार कर ऊँचा बनाएँ तथा जीवन को उच्च स्तर पर ले जाएँ– बाक़ी सभी कुछ स्वयमेव अपना स्थान ग्रहण कर लेगा। एक तरह से, यह उन यम और नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करना ही था, जिनसे सदाचार का आचरण बनता है, जोकि सही दिशा में पहला और प्रारम्भिक क़दम होता है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि महात्मा बुद्ध ने परमात्मा के अस्तित्व को या उस तक पहुँचने के आध्यात्मिक मार्ग पर चलने के लिए किए जाने वाले प्रयासों और नियमों को नकारा। आम जनता के सामने किसी उच्चतर मूल्य की वस्तु या पदार्थ के अस्तित्व को न रखने का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वह पदार्थ अस्तित्व में है ही नहीं, विशेषकर उस समय जब आम लोग उन समयों में मानसिक या आध्यात्मिक तौर पर उसे मानने के लिए अभी तैयार नहीं हों, जोकि उनके समय से काफ़ी आगे का हो। वास्तव में, वह उच्च मार्ग कुछ चुने हुए शिष्यों के लिए छोड़ दिया गया था, जो इस योग्य हों कि आध्यात्मिक अनाहद नादश्रवण सम्बंधी शिक्षाओं को ग्रहण करके उन्हें जीवन में ढाल सकें, जैसा कि हम सुरंगम-सूत्र में पाते हैं, जिसमें सर्वोच्च बोधिसत्वों तथा महासत्वों और महान अर्हतों के आत्मिक अनुभवों का उल्लेख है। इनमें महाकश्यप, सारिपुत्र, समंतभद्र, मीतालुनीपुत्र, मौद्गल्यायन, अक्षोभ्य, बैजुर्य, मैत्रेय, महास्थेमाप्राप्त तथा अन्य सम्मिलित हैं। अपने उल्लेखों में उन सभी ने, एक या दूसरे प्रकार से, स्वर्णिम-मयूरी चमकदार ज्योति, विशुद्ध मनस्तत्व की अनन्तता, भौतिक देहाभास के परे का अनुभव, संतुलित एवं लयात्मक आकाशीय तरंगों के अंतस्थल का खोलते हुए अन्तर मन द्वारा अनुभूत तथा मन-इंद्रियों से परे आंतरिक नाद-श्रवण का, जोकि सिंह-गर्जना या ढोल की आवाज़ के समान

अवर्णनीय तथा रहस्यमयी धर्म-नाद की ओर ले जाता है– अग्नि-तत्व की भेदन शक्ति का, जोकि अंतर्ज्ञान की अंतर्दृष्टि को प्रकाशित करके स्पष्ट कर देती है और उन्हें सभी देव-लोकों तथा अंततः अचल बुद्ध-देश को दर्शन करने योग्य बनाती है, उल्लेख किया है, जिनसे संतुलित व तालबद्ध आकाशीय तरंगों को उनके हृदय तक अनावृत्त कर दिया जाता है।

वे 'मन-इंद्रियों से परे की चेतना की सर्वोच्च, अद्‌भुत एवं सम्पूर्ण 'समाधि' की भी बात करते हैं, जिसे 'हीरक समाधि' कहा गया है, जो 'आंतरिक नादश्रवण' से प्राप्य होता है जबकि मन, मानसिक विकारों से मुक्त होकर, अपने आपको 'दिव्य-धारा' में खो देता है।

धर्म के राजकुमार, मंजुश्री ने अनेक महापुरुषों की बात सुनने के बाद इस बात पर ज़ोर दिया कि "मन के सार की चरम पवित्रता व उसमें निहित ज्योतिर्मयता, जोकि सभी दिशाओं में सहज ही प्रज्ज्वलित होती है" प्राप्त की जाए। उस महान समुदाय को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "बाह्य श्रवण इन्द्रिय को त्यागकर आंतरिक ध्वनिनाद को सुनो, जोकि मनस्सार का सम्पूर्ण एकीकृत तथा अंतःनिहित नाद है।" तथापि उन्होंने इस विषय को साररूप में इन स्मरणीय शब्दों में प्रस्तुत किया :

> **निर्वाण का यही एकमात्र मार्ग है और भूतकाल में हुए सभी तथागतों ने इसी का अनुसरण किया। सभी वर्तमान बोधिसत्वों और महासत्वों तथा भविष्य में सभी के लिए भी यही रास्ता है, यदि उन्हें सम्पूर्ण आत्मज्योति के अनुभव की आशा है। पुरातन समयों में न केवल अवलोकितेश्वर ने ही इस स्वर्णिम मार्ग से सम्पूर्ण आत्मानुभव प्राप्त किया, प्रत्युत वर्तमान काल में, मैं भी उनमें से एक हूँ....। मैं सत्यापित करता हूँ कि अवलोकितेश्वर ने जो मार्ग अपनाया, वह सर्वाधिक सरल और शीघ्र सफलता प्राप्त करने वाला मार्ग है।***

पुनश्चः, बौद्धमत के हीनयान मार्ग में ध्यान करने वालों को 'श्रावक' कहा जाता था, जिसका अर्थ है– श्रोता या सुनने वाला अर्थात् आंतरिक ध्वनि को सुनने वाला।

परन्तु, भगवान बुद्ध के शरीर त्यागने के पश्चात् उन्होंने जो गुप्त शिक्षा कुछ चुने हुए शिष्यों को दी थी, वह धीरे-धीरे विलुप्त हो गई और

अन्य सभी धर्मों की तरह बुद्ध धर्म भी अपने समय की महान आवश्यकताओं को पूरी करने के बाद आज के युग में केवल रीति-रिवाज़ों का संग्रह मात्र ही रह गया है और सत्य के खोजियों को यह थोड़ी बहुत ही ढाढस बँधाता है, जोकि केवल एक ऐसे सत्य के अनुभवी सच्चे संत से ही मिल सकता है, जिसने सत्य का आंतरिक अनुभव और आध्यात्मिक उपलब्धि प्राप्त कर ली हो।

3. ताओ मत

चीन की ओर दृष्टिपात करने पर हम देखते हैं कि बौद्ध मत के सर्वश्रेष्ठ विचार चीनी धार्मिक परम्परा में घुलमिल गए हैं। परन्तु, इसके साथ ही हम स्वयं लाओ-त्जी के, जो चीन आध्यात्मिक परम्परा या ताओवाद के जनक माने जाते हैं, सन्देशों का भी स्मरण कर सकते हैं। 'ताओ' शब्द का अर्थ है, 'रास्ता' अथवा 'ब्रह्मांड का गुप्त सिद्धांत'।

ताओ का वर्णन करते हुए, लाओ-त्जी उसे 'परिपूर्ण ताओ' कहते हैं, जो 'सार तत्व' तथा 'आध्यात्मिक सत्य' है, जोकि उसके व्यक्त रूप से एकदम अलग है, किन्तु फिर भी उसमें व्याप्त है। जैसेकि भारतीय परा-विद्या के ज्ञाताओं ने उच्चरित किए जाने वाले 'ॐ' तथा 'ॐ' जोकि अवर्णनीय, अव्यक्त और 'शब्दरहित शब्द' है, का भेद किया है, उसी प्रकार लाओ-त्जी का भी कहना है :

> **जिस ताओ के बारे में वर्णन हो सकता है, वह परिपूर्ण ताओ नहीं है। जो नाम उसे दिए जा सकते हैं, वे परिपूर्ण नाम नहीं हैं।**

ताओ के चरित्र के बारे में आगे कहा गया है कि,

> **ताओ सर्वव्यापी है और उसका उपयोग कभी समाप्त नहीं होने वाले हैं। वह अगाध है, उसकी गहराई नापी नहीं जा सकती है। वही सभी पदार्थों का आदि स्रोत है।**

पुनश्च: :

> **महान ताओ सभी ओर प्रवाहित है। एक महाप्रवाह की भाँति वह बाँये और दाँये सभी ओर फैला है। अनन्त पदार्थ व सांसारिक वस्तुएँ उससे उत्पन्न होती हैं तथा जीवन ग्रहण करती हैं और ऐसा करने से वह कभी उन्हें इनकार नहीं करता।**

और पुनश्चः :

ताओ कभी कुछ नहीं करता, परन्तु इसके ही द्वारा ही सब कुछ होता है।

पुस्तक दो में, जो ताओ के प्रयोग से संबंधित 'परावर्तन के सिद्धांत' के बारे में है, कहा गया है :

ताओ का धर्म परावर्तित करने का है (अर्थात् जहाँ से सृष्टि का उद्‌गम है। ताओ के साथ लगने से आत्मा वहीं पहुँच जाती है।) ताओ का कार्यकलाप सहजता है। अस्तित्व में से ही सांसारिक पदार्थों का आगम है और स्वयं वह भी अनस्तित्व में समा जाता है।

ताओ समस्त ज्ञान का स्रोत है :

घर से बाहर क़दम रखे बिना ही यह ज्ञान हो जाता है कि बाहर दुनिया में क्या हो रहा है। बिना बाहर खिड़की से झांके ही स्वर्ग के ताओ का आभास किया जा सकता है। जितना अधिक ज्ञान किसी को होता है, उतना ही कम वह जानता है। अतः, बिना भाग-दौड़ किए ही महापुरुष सब कुछ जान लेता है, बिना देखे ही सब कुछ समझ लेता है और बिना कुछ करे ही सब कुछ उपलब्ध कर लेता है।

ताओ की महान स्वरलहरी, जो इस सृष्टि का रहस्यमय गुप्त भेद है, तभी प्रकट होती है जबकि,

रहस्यमयी गुण स्पष्ट हों, दूरगामी हों। और जब इस स्रोत में सभी पदार्थ लौट आते हैं, तब और केवल तभी महान स्वरलहरी प्रकटती है।

अपनी महान शिक्षाओं के बारे में (जैसे कि महापुरुषों की भी होती हैं) उन्होंने कहा :

मेरी शिक्षाएँ समझने में बहुत आसान हैं और अभ्यास करने में बड़ी सरल हैं। परन्तु उन्हें कोई नहीं समझ सकता और न ही कोई उनका अभ्यास ही कर सकता। मेरे शब्दों में एक सिद्धांत है। मानव के जीवन में एक नियम है। क्योंकि वे इनको नहीं जानते, अतः वे मुझे भी नहीं जानते। क्योंकि

कुछ थोड़े से व्यक्ति हैं, जो मुझे जानते हैं, इसीलिए मैं विशिष्ट हूँ। इसीलिए महापुरुष साधारण से कपड़े पहनते हैं, पर अपने हृदय में उस प्रभुसत्ता के रत्न को छिपाए रहते हैं।

अंत में, स्वर्ग के मार्ग के बारे में बताते हुए वे कहते हैं :

सच्ची बातें सुनने में अच्छी नहीं लगतीं और अच्छे लगने वाले वचन सच्चे नहीं होते। एक भला आदमी तर्क-वितर्क नहीं करता और जो ऐसा करता है, वह भला आदमी नहीं होता। बुद्धिमान मनुष्य अधिक कुछ नहीं जानता और जो बहुत सी बातें जानता है, वह बुद्धिमान नहीं होता। महापुरुष अपने लिए कुछ भी संग्रह नहीं करता। वह दूसरों के लिए जीता है और अपने आप में धनी होता जाता है। वह दूसरों को देता जाता है और स्वयं भरपूर होता जाता है। स्वर्ग का ताओ आशीर्वाद से भर देता है, पर किसी की हानि नहीं करता। महापुरुषों का मार्ग उपलब्ध कराता है, पर संघर्ष कराता नहीं।

उपरोक्त वर्णन से, यह स्पष्ट है कि ताओ एक रास्ता है, ऐसा रास्ता जो सत्य की ओर जाता है, सत्य जो अकथनीय है, सर्वोपरि है, जो सभी अस्तित्वों का आधार है, जो एक हिरण्यगर्भ है, जिसमें से सकल सृष्टि का उद्गम होता है। यह केवल मन की स्थिरता का अभ्यास करने से अथवा मन को चित्तवृत्तियों से मुक्त करने से प्राप्त होता है। यह एक ऐसी सुशांत अवस्था है, जिसे बहुत कम व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं, इसके आनन्द का अनुभव कर सकते हैं और इसकी तरंगें दूसरों तक पहुँचा सकते हैं। अंतर्मुख होने का रास्ता बाहर की ओर जाते हुए ध्यान को परावर्तित करने और अपने अहंकार को त्याग करके आत्मा को शुद्ध करने में निहित है। "शांति में स्थिर हो जाओ, और आत्मा की ज्योति स्वःप्रकाशित हो उठेगी और हृदय में अपना घर बना लेगी।" सतर्कतापूर्वक 'देखो और प्रतीक्षा करो' की विधि द्वारा ही मन को रिक्त और शांत अवस्था में लाया जा सकता है। ऐसे मन के समक्ष ही प्रकृति अपने रहस्य प्रकट करती है। ताओ का अनुभव पाने के लिए यह 'वे-वेई' या 'रचनात्मक शांतावस्था' परम् आवश्यक है, जिसमें 'सर्वोच्च सक्रियता' तथा 'सर्वोच्च विश्राम'- दोनों एक ही साथ समाहित हैं। यह एक तनावरहित ज़िंदगी है, जो जादुई प्रभाव

रखती है। ताओ बिना कार्यरत हुए ही कार्यरत रहता है और उसे सीखा नहीं जा सकता, और इसलिए, एक समझदार व्यक्ति बाहरी की अपेक्षा आंतरिक दृष्टि को प्राथमिकता देता है। ताओ का रास्ता सदा ही प्रकृति के साथ सामंजस्य में निहित होता है और सहजता के ओर अग्रसर होने से प्राप्त होता है। यह जीवन जीने का एक ऐसा तरीक़ा है, जिसके द्वारा ताओ की सार्वभौमिक अविच्छिन्नता प्राप्त होती है।

किन्तु, अब लाओ-त्जी के बिना, ताओवाद अपना वास्तविक गुह्य अर्थ खो चुका है, और एक गौण स्तर का अर्थ प्राप्त कर चुका है, जिसमें इसका अर्थ मात्र ब्रह्मांड के रास्ते या एक रास्ते के है, जिसके अनुसार व्यक्ति अपने जीवन को व्यवस्थित कर सके। बिना किसी इस मार्ग पर प्रशस्त करनेवाले सत्गुरु की सहायता के यह देखना कठिन है कि एक व्यक्ति अपने जीवन को व्यवस्थित करके स्वयं ताओ की ओर कहाँ तक प्राप्त कर सकता है।

4. ज़रतुश्तु मत

हिंदू जिसे 'ॐ', 'नाद' या 'शब्द' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'धर्म की सिंह-गर्जना' कहते हैं, लाओ-त्जी जिसे 'ताओ' कहते हैं, पुरातन महापुरुष, रातु ज़रतुश्तु, उसे 'स्त्रोशा' अर्थात् 'जिसे सुना जा सके', कहते हैं :

मैं उस दिव्य स्त्रोशा (शब्द) को प्रार्थना द्वारा प्रेरित करता हूँ, जो आत्मिक सहायता के लिए सभी दिव्य उपहारों में सबसे महान है।

– हा० 33-35

वह सृष्टिकर्ता स्पंदन है, जो अपनी सर्वव्यापी सत्ता द्वारा व्यक्ति के प्रकट होते सर्वस्व को अपने अन्दर समेट लेता है। वह सर्वदृष्टा है, स्वयंभू, स्वयंस्थित जीवनदाता है। उसने इस रहस्यमयी स्पंदन तथा इसकी सुरम्य संगीत लहरियों को रचा है, विश्व के हेतु अपने निजी स्वःबलिदान के दिव्य सत्ता द्वारा, स्वःउत्कृष्ट होती आत्माओं के हेतु।

* *निकोलस नोटोविक, 'दि अननोन लाइफ़ ऑफ़ क्राइस्ट', शिकागो : इन्डो-अमेरिकन बुक कम्पनी,* 1894.

वह ऐसा व्यक्ति है, जो अपने महान ज्योतिर्मय उत्कृष्ट मन से रहस्यमयी स्पंदन तथा दिव्य सत्ता' दोनों को ही प्रदान करता है, अपने कृपालु मुख से मृतधर्मा जीवों के लिए।

– हा० 29-7

गाथा उश्तावैती में ज़रतुश्तु कहते हैं :

मैं उस शब्द का रहस्य इस प्रकार उद्घाटित करता हूँ, जिसे उस सर्वाधिक प्रकट सत्ता ने मुझे उसे सिखाया है। वह ऐसा शब्द है, जो मृत्युलोक के जीवों के श्रवण के लिए लिए सर्वश्रेष्ठ है। जो कोई भी मेरी बात मानेगा, मुझ पर ध्यान देगा, वह सर्वव्यापी परिपूर्ण प्रभु सत्ता और अमरत्व को प्राप्त करेगा। वह पवित्र दिव्य–प्रभु की आत्मा की सेवा द्वारा वह मजदा अहूरा (प्रभुत्व) को प्राप्त करेगा।

– हा० 35-8

परन्तु, आज हम देखते हैं कि पारसी घरों व मंदिरों में केवल प्रतीक रूप में एक पवित्र अग्नि जलती रहती है, और प्रार्थनाएँ व स्तोत्र गाए जाते हैं। किन्तु, उस जीवंत स्रोशा के अथवा सृष्टिकर्ता शब्द की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता, जिसका स्वयं महान फ़ारसी महापुरुष ने अनेक वर्षों तक अलबुर्ज़ के पहाड़ में रहकर अभ्यास किया था और जिसके बार में उन्होंने लोगों को शिक्षा दी थी, बॅबीलोन और निनिवेह के पुरातन देवताओं की पूजा करने का विरोध करते हुए। मूल स्रोशा के प्रतीक चिन्ह, अग्नि से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहने के कारण यह आश्चर्य नहीं कि पारसी लोग अब हर जगह 'अग्नि के उपासक' के रूप में जाने जाते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि प्रत्येक संत–महात्मा ने अपने देश व समय में दुनिया को उसी सत्य का उपदेश दिया, जो उन्होंने स्वयं अनुभव किया और उसे इस रूप में प्रचारित किया कि आम लोगों द्वारा भी उसे आसानी से समझा और ग्रहण किया जा सके। उस आत्मिक ज्ञान की सम्पूर्णता के लिए, जो हम लोगों ने उनसे पाया है, उनमें से प्रत्येक अपने योगदान के लिए सर्वोच्च सम्मान के योग्य हैं, परन्तु इस ज्ञान का वास्तविक अर्थ एवं आध्यात्मिक सच्चाई का निजी अनुभव गुज़रे हुए महापुरुषों से प्राप्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे लोगों को 'पवित्र शब्द' का जीवंत संपर्क

देने तथा उन्हें 'पवित्र आत्मा', या उसे किसी भी नाम से पुकारें, के साथ एकता में स्थापित करने के लिए अब भौतिक मंडल तक नीचे नहीं आ सकते हैं। इस कार्य के लिए एक जीवित सत्गुरु की आवश्यकता होती है, जो पिछले सत्गुरुओं की तरह ही 'शब्द' के साथ लगातार जुड़ा हुआ है, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन जीवन से ही मिलता है, जिस प्रकार प्रकाश, प्रकाश से ही मिलता है।

II. ईसाई मत

ईसा मसीह (जीसस क्राइस्ट) साररूप से में पूर्व के ही महापुरुष थे और उनकी शिक्षाएँ पूर्वी अध्यात्म-विद्या से भरपूर हैं। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन के अनेकों वर्ष (जिनके बारे में सुसमाचार या गौस्पेल्ज़ धर्मग्रंथ मौन हैं) भारतवर्ष में व्यतीत किया था और अपने भ्रमण के दौरान योगियों तथा बौद्ध भिक्षुओं से बहुत कुछ सीखा। उन्होंने सम्भवतः अपना उपदेश भी भारतवर्ष से ही प्रारम्भ किया था और यह सम्भव है कि उन्हें ब्राह्मणों और तथाकथित सामाजिक उच्च वर्ग से अपने सार्वभौमिक दृष्टिकोण के कारण उत्पीड़न का प्रथमानुभव भी प्राप्त किया था, क्योंकि वे वर्गों के भेदभाव को नहीं मानते थे तथा मानव मात्र की समानता की शिक्षा देते थे।

विश्व के धार्मिक चिंतन में उनके योगदान को उनके सार्वभौमिक-प्रेम तथा मनुष्य के अन्दर बसते प्रभु के साम्राज्य की आवश्यकता पर बल के रूप में देखा जा सकता है– ये दो मुख्य सिद्धान्त ऐसे हैं, जो सनातन काल से ही प्राचीन लोगों को विदित थे, परन्तु व्यवहार में विस्मृत और नज़रअंदाज़ कर दिये गये था।

> **यह मत समझना कि मैं पुरातन नियमों को भंग करने आया हूँ अथवा पुराने पैगंबरों के उपदेशों का तिरस्कार करने आया हूँ। मैं उनकी मान्यताओं को मिटाने नहीं आया हूँ, बल्कि उन्हीं को पूरा करने के लिए आया हूँ।**
>
> – पवित्र बाइबिल (मत्ती 5:17)

आओ, हम ईसा मसीह की कुछ कुछ मुख्य उक्तियों का परीक्षण करें, जो प्रकट करती है कि वे पुरातन धार्मिक विचारधारा से भली भाँति

परिचित थे और उन्होंने 'श्रव्य जीवन-धारा के संतों-सत्गुरुओं के मार्ग' का अभ्यास किया था, जिनको आज जो उनकी शिक्षाओं का अध्ययन करते हैं, प्राय: नज़रअंदाज़ कर देते हैं अथवा वे उनका ग़लत अर्थ निकालते हैं :

शरीर की ज्योति आँख है। इसलिए यदि तुम्हारी आँख एक हो जाए, तो तुम्हारा सारा शरीर प्रकाश से भर जाएगा। परन्तु, यदि तुम्हारी आँख बुराई से भरी होगी तो तुम्हारा सारा शरीर अंधकार से भरा रहेगा। इसलिए यदि वह ज्योति, जो तुम्हारे अन्दर है, अंधकार में दबी रह गई, तो समझो कि वह अंधकार कितना प्रबल है।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 6:22,23 तथा लूका 11:34)

निश्चय ही, यहाँ 'आँख' का तात्पर्य 'शिव-नेत्र' से है और "यदि तुम्हारी आँख एक हो जाए" का अर्थ है, एकाग्रचित्त चेतना, जोकि दोनों आँखों के बीच में पीछे की ओर केंद्रित हो। पुनश्च:, ये शब्द कि "यदि तुम्हारी आँख में बुराई हो" से तात्पर्य मानसिक बिखराव की अवस्था से है, जो आंतरिक एकाग्रता की अवस्था के विपरीत है, और उसका परिणाम निश्चयपूर्वक अंधकार ही होगा– ऐसा अंधकार, जो जीवन के सच्चे मूल्यों के प्रति अज्ञानता के कारण पैदा होता है, जो आत्मा का सबसे बड़ा रोग है।

सेंट ल्यूक उसके बाद एक चेतावनी भी देते हैं, जब वे कहते हैं :

अतः सावधान रहो, ताकि तुम्हारे अन्दर का प्रकाश कहीं अंधकार में परिवर्तित न हो जाए।

– पवित्र बाइबिल (लूका 11:35)

जो कुछ मैंने तुम्हें अंधेरे में बताया है, उसे तुम प्रकाश में जाकर बताओ। जो कुछ तुम अपने कान से सुनते हो, उसे अपने घरों की छतों पर जाकर ज़ोर-ज़ोर से पुकारकर सबको बतलाओ।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 10:27)

ये ईसा के कुछ उपदेश हैं, जिन्हें उन्होंने अपने चुनिन्दा शिष्यों को दिया था, ताकि जो कुछ भी उन्होंने 'अंधकार' में अर्थात् गुप्त ध्यानाभ्यास में सुना, उसका महत्त्व वे लोगों को खुले में (प्रकाश में) बताएँ और जो

दिव्य-संगीत पारलौकिक 'श्रुति' के माध्यम से सुना, उसके बारे में भी लोगों को बताएँ।

आगे उन्होंने कहा :

सुनते हुए तुम सुन तो सकोगे, परन्तु समझ नहीं सकोगे, और देखते हुए तुम देख तो सकोगे, परन्तु उसको महसूस नहीं कर सकोगे।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 13:14)

यह विचार आत्म-विज्ञान के अंतर्मुखी प्रकृति की ओर संकेत करता है, जिसका अनुभव मनुष्य शरीर की प्रयोगशाला के अन्दर आत्मा की गहराइयों में ही हो सकता है और उसे बौद्धिक स्तर पर या इंद्रियों के स्तर पर समझा नहीं जा सकता।

सेंट मैथ्यू उस बात को स्पष्ट करते हुए आगे बतलाते हैं :

मैं तुम्हें सत्य कहता हूँ कि अनेक नबियों और श्रेष्ठ लोगों ने उसे देखने की कोशिश की, जिसे तुम देखते हो, परन्तु वे उसको देख नहीं सके; उन्हें सुनने की कोशिश की, जिन्हें तुम सुनते हो, परन्तु वे उनको सुन नहीं सके।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 13:17 तथा लूका 13:24)

स्पष्ट शब्दों में हमारे पास ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जो आंतरिक अनुभव तथा 'ज्योति एवं श्रुति' के साम्राज्य के बारे में हैं, जिसे ईसा जैसे एक सच्चे सत्गुरु ही अपने शिष्यों के समक्ष प्रत्यक्ष अनुभवरूप में प्रदान कर सकते थे।

अन्य संतों-महापुरुषों की भाँति, ईसा ने अपने सच्चे शिष्यों को एक रहस्यमयी आत्मिक अनुभव प्रदान किया था। जनसाधारण से वे सदा ही दृष्टांत उदाहरण देकर बात करते थे, जैसे सरसों के बीज, अंजीर के वृक्ष, दस कुमारियाँ इत्यादि, जिनसे गौस्पेल (सुसमाचार) धर्मग्रंथ भरे पड़े हैं।

एक दृष्टांतकथा में वे लोगों के दिलों में 'शब्द' का बीज बोने की बात करते हैं और कहते हैं कि,

शब्द का जो बीज रास्ते में गिर जाता है, उसे हृदय से शैतान चुरा ले जाता है। जो बीज पत्थर-हृदय पर बोया जाता है, वह तो उगता ही नहीं और उसकी जड़ें नहीं जमती, वह थोड़ी देर तो जीवित रहता है, बाद में शब्द के लिए संघर्ष

करने वाले कष्टों और दुखों आदि के कारण वह टिकता नहीं, बह जाता है। शब्द का जो बीज कंटीले हृदयों में बोया जाता है, वह सांसारिक विषमताओं में घिर जाता है, कपट और सांसारिक वासनाओं के कारण नष्ट हो जाता है। और अंत में अच्छी .जमीन पर बोया गया शब्द-बीज, जैसे कि जो सुनाई देता है और ग्रहण किया जाता है, फल देता है।

– पवित्र बाइबिल (मरकुस 4:22)

ईसा के द्वारा सिखाया गया मार्ग अपने अहम् को नकारने और शारीरिक चेतना से ऊपर उठने का है, जो जीते-जी मरने के अनुभव के समान है।

तब ईसा ने अपने शिष्यों से कहा :

यदि कोई मनुष्य मेरा अनुसरण करना चाहता है, तो वह पहले अपने अहम् को त्याग दे, अपना क्रूस उठा ले और मेरा अनुसरण करे।

जो कोई अपने जीवन को बचाएगा, वह उसे खो देगा और जो कोई अपना जीवन मेरे लिए खो देगा, वह उसे पा लेगा।

यदि एक मनुष्य सारे संसार को भी पा जाए और अपनी आत्मा को खो दे, अर्थात् अपने-आप को न पहचाने, तो भला उसे क्या फ़ायदा हुआ? या कोई व्यक्ति अपनी आत्मा के बदले क्या दे सकता है?

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 16:24-26)

इसका अर्थ है कि व्यक्ति को अपने बाहरी व्यक्तित्व का, जिसमें सांसारिक जीवन तथा विषयग्राही मन सम्मिलित हैं, बलिदान देना पड़ता है, ताकि उसे उसके आंतरिक व्यक्तित्व अर्थात् आत्मा की प्राप्ति हो सके। दूसरे शब्दों में, उसे अपने इंद्रियों के जीवन को देकर उसके बदले आत्मा का जीवन प्राप्त करना होगा।

पुनश्च:, प्रभु के प्रेम को जीवन की सबसे गहरी चाहत बनाना होगा।

अपने परमात्मा को तुम अपने पूरे हृदय से, और पूरी आत्मा से, और पूरे मन से प्रेम करो।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 22:37)

सेंट मार्क आगे कहते हैं कि,

और, अपनी पूरी ताक़त के साथ।

– पवित्र बाइबिल (मरकुस 12:30)

यह पहली और प्रमुख आज्ञा है। और दूसरी भी उसके जैसी है– तुम अपने पड़ोसी से वैसे ही प्रेम करो, जैसेकि अपने आपसे करते हो। इन्हीं दो आदेशों पर सभी नबियों और अन्य यम-नियमों के अन्य आदेश आधारित हैं।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 22:37, मरकुस 12:30 व लूका 10:27)

प्रेम का सिद्धांत आगे इस प्रकार विस्तृत किया गया है :

अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो, उन्हें भी आशीर्वाद दो, जो तुम्हें अभिशाप देते हैं। उनके लिए भला करो, जो तुम्हें घृणा करते हैं तथा उनके लिए प्रार्थना करो, जो तुमसे द्वेषपूर्वक व्यवहार करते हैं तथा तुम्हें दंडित करते हैं।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 5:44)

और यह सब कुछ क्यों? परमात्मा के स्वरूप में ढलने के लिए :

तुम वैसे सम्पूर्ण बनो, जैसा कि तुम्हारा पिता स्वर्ग में है, जो परिपूर्ण है।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 5:48)

लूका के अध्याय-3 में, हमें बताया गया है कि "ज़कारिया के पुत्र, जॉन को प्रभु का 'शब्द' बियाबान जंगलों में प्राप्त हुआ" और कर्मों के काटने हेतु पश्चाताप के बप्तिस्मा का उपदेश देते हुए जॉन ने एकत्रित आष्चर्यचकित जनसमूह को बताया :

मैं तुम्हें केवल जल से ही दीक्षित करता हूँ। परन्तु मेरे से भी अधिक शक्तिवान आगे जाएगा, जो तुम्हें पवित्र शब्द (होली घोस्ट) और अग्नि से दीक्षित करेगा।

– पवित्र बाइबिल (लूका 3:2-3,16)

पवित्र शब्द और अग्नि द्वारा दीक्षित करने के शब्दों पर हमें सावधानी-पूर्वक विचार करना होगा, क्योंकि इनमें एक तो दिव्य-संगीत का तथा दूसरा दिव्य-ज्योति का द्योतक है। ये दोनों मिलकर 'ज्योति' और 'श्रुति' के सिद्धांत का निर्देशन करते हैं, जोकि प्रभु की

प्राथमिक अभिव्यक्तियाँ हैं अर्थात् समस्त सृष्टि के अन्दर प्रभु की कार्यरत शक्ति।

प्रभु के साम्राज्य का रास्ता उसी के लिए खोला जा सकता है, जो यह जानता है कि उसके लिए 'माँग' कैसे की जाए, उसको 'ढूंढा' कैसे जाए और उसके द्वार पर 'दस्तक' कैसे दी जाए। इन तीन साधारण शब्दों में, सेंट मत्ती ने अध्याय-7 में तथा सेंट लूका ने अध्याय-11 में संक्षेप में यह बताया है कि प्रभु के चाहने वाले को क्या करना चाहिए। दुर्भाग्य से, हम अभी तक यही नहीं जानते कि दरवाज़ा कहाँ है, जिसे हमें खटखटाना है। गुरु नानक देव जी ने भी ज़ोरदार शब्दों में कहा है :

अगिआनी अंधा मगु न जाणै फिरि फिरि आवण जावणिआ।।

– आदि ग्रंथ (माझ म॰3, पृ॰110)

(ऐ अंधे! तुझे दर दरवाज़े का पता ही नहीं है। तू बार बार आवागमन करता है।)

उसी द्वार के बारे में सेंट मैथ्यू हमें बताते हैं :

तुम उस कठोर द्वार से प्रवेश करो...क्योंकि दरवाज़ा कठिन है और रास्ता तंग है, जो जीवन की ओर जाता है। और ऐसे लोग बहुत ही कम हैं, जो उसे पाते हैं।

– पवित्र बाइबिल (मत्ती 7:13-14)

यह वास्तव में एक परिवर्तन का रास्ता है, क्योंकि प्रभु के साम्राज्य में कोई भी तब तक प्रवेश नहीं पा सकता, जब तक कि वह एक परिवर्तित हो छोटे बालक जैसा न बन जाए (मत्ती 18:3) अर्थात् जब तक वह अपने अहंकार को न त्याग दे, बच्चे जैसा ही नम्र, पवित्र, सहज और मासूम न बन जाए। लूका अध्याय 18:15-17 में उसका विस्तृत वर्णन करते हैं, क्योंकि जब उनके शिष्यों ने उन्हें टोका जो बच्चों को भी साथ ले आए थे, तो ईसा ने उन्हें बुलाया और कहा, "छोटे बच्चों का मेरे पास आने के लिए तुम कष्टों को सहन करो और उन्हें यहाँ आने से मना मत करो, क्योंकि प्रभु का साम्राज्य इन जैसों का ही है। निश्चयपूर्वक मैं तुम्हें कहता हूँ कि जो कोई भी बच्चे के समान होकर प्रभु की बादशाहत का स्वागत नहीं करेगा, वह उसमें प्रवेश नहीं पा सकेगा।"

जॉन (यूहन्ना) के अध्याय-1 में हमें ईसा की शिक्षाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। वह अपने सुसमाचार का स्मरणीय शब्दों के साथ आरम्भ

करते हैं, जिनका गहन रहस्यमय महत्त्व समझने पर बहुत ही कम लोगों ने ध्यान दिया है।

आदि में शब्द था, शब्द प्रभु के साथ था, और शब्द ही प्रभु था। वही प्रभु के साथ प्रारम्भ में था। सभी पदार्थ उसी से बने और जो कुछ भी बना, उनमें ऐसा कुछ भी नहीं था, जो उसके बिना बना हो। उसमें जीवन था, और वह जीवन मनुष्य के अन्दर की ज्योति थी। ज्योति, जोकि अँधेरे को प्रकाशित करती है, परन्तु अँधेरा उसे जान नहीं पाता है।... वह सच्ची ज्योति थी, जोकि इस संसार में आने वाले प्रत्येक मनुष्य को प्रकाशित करती है। वह संसार में था, और संसार उसी से निर्मित हुआ, परन्तु फिर भी दुनिया उसे नहीं जान पाई।...और वह शब्द सदेह हुआ और हमारे बीच आकर रहा।

– पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 1:1-5,9-10,14)

सेंट जॉन के ऊपर के कथन में शब्द की प्रकृति के बारे में कोई शंका नहीं हो सकती। यह स्पष्ट रूप से विश्व का जीवन और ज्योति है और उसका सृजनात्मक जीवन तत्व है, जिसमें हम जीवित हैं, जिसमें हम कार्य करते हैं और जिससे हम अपना अस्तित्व पाते हैं। यह प्रभु की आत्मा है, जोकि आत्मा का सार तत्व है, परन्तु इस समय संसार के शक्तिशाली भंवरजाल तथा जो कुछ भी सांसारिक है, उसमें खो गई है। यह केवल उस आत्मा के साथ संपर्क ही है, जोकि प्रभु के पास वापिस जाने का रास्ता दिखाता है और इसलिए यही सच्चा धर्म है। इस संपर्क को अनेक तरह से वर्णित किया गया है- जैसे कि दूसरा जन्म, पुनर्जीवन अथवा जीवन को दुबारा प्राप्त करना। इज़राइल के फ़ारसी एवं शासक निकोदेमस को संबोधित करते हुए, ईसा ने कहा :

निश्चय ही मैं तुमसे कहता हूँ कि जब तक एक व्यक्ति दुबारा उत्पन्न न हो, वह प्रभु के साम्राज्य को नहीं देख सकता *("देखने" शब्द पर ध्यान दें)*। **निश्चयपूर्वक ही मैं तुमसे कहता हूँ कि जब तक मनुष्य को जल और आत्मा का जीवन प्राप्त नहीं होता, वह प्रभु के साम्राज्य में प्रविष्ट नहीं हो सकता।** *("प्रविष्ट होने" शब्द पर ध्यान दें)*

> **अचरज मत करो यदि मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें दोबारा पैदा होना पड़ेगा।**
>
> – पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 3:8)

ईसा आत्मिक रूप से दोबारा जन्म लेने वाले व्यक्ति की तुलना हवा से करते हैं :

> **हवा वहाँ बहती है, जहाँ वह झुकती सुनती है, क्योंकि उसकी ध्वनि को सुनने के बाद भी कोई यह नहीं बता सकता कि यह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है।**
>
> – पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 3:8)

अन्यत्र उन्होंने पवित्र शब्द का वर्णन 'जीवित जल' के रूप में किया है, ऐसा जल जो, 'सदा रहने वाले जीवन' में से उत्पन्न होता है - सेंट जॉन (4:10,14)।

ईसा स्वयं को 'जीवनदायिनी रोटी' कहते हैं, 'जीवित रोटी' जो स्वर्ग से आई है और अपने शिष्यों से कहते हैं :

> **प्रभु के पुत्र के माँस को खाओ और उसके रक्त को पिओ, क्योंकि इनके बिना तुम्हें अपने अन्दर जीवन नहीं मिलेगा।**
>
> – पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 6:48-58)

ये संक्षेप में क्राइस्ट की शिक्षाओं के सार अंश हैं, जो ईसाइयत के सत्गुरु थे, परन्तु संस्थागत ईसाइयत का नहीं। ईसाईयत के अधिकतर सिद्ध ांत, ईसा द्वारा निश्चित नहीं किए गए थे, बल्कि उन्हें सेंट पॉल ने बनाया था, जिसने ईसा को बलि का बकरा बना दिया, ताकि संसार के पापों का प्रायश्चित्त हो सके तथा इसी केंद्रीय विचार के आसपास– जैसा कि यहूदी धर्म से लिया गया तथा अन्य मतों से, जो उस समय (मैडिटरेनियन) भूमध्य सागर के आसपास पनपे और विकसित हुए रीति-रिवाज़ों एवं कर्मकांडों का ढेर सा जमा हो गया है।

ईसा के शिक्षोपदेश अब भी उतने ही उत्कृष्ट नैतिक संदेश हैं और निस्सन्देह, वे आंतरिक अनुभव के मार्ग की ओर इंगित करते हैं, परन्तु अपने आप में वे जिज्ञासु को अनुभव के मार्ग पर नहीं लगा सकते, क्योंकि वे अब सत्गुरु की जीवित तरंगों तथा संवदेक स्पर्श से रहित हैं, जो अपने

समय में आकर, अपना वह कार्य पूर्ण करके, जो उन्हें अपने समयों में सौंपा गया था, वापस चले गए हैं। अब वे लोगों को दीक्षित करके सत्य के मार्ग पर अग्रसर नहीं कर सकते और उन्हें वास्तविक परम सत्य का साक्षात्कार नहीं करा सकते। ईसा की सभी आध्यात्मिक शिक्षाओं में अब हम गिरजाघरों में केवल प्रतीकात्मक रूप से जलती हुई मोमबत्ती को ही देखते हैं और सेवा के समय आनुष्ठानिक एक बड़ा घंटा बजाते हुए। बहुत ही कम व्यक्तियों को यह पता होगा कि इन रस्मों का वास्तविक महत्त्व क्या है, जोकि 'ज्योति एवं श्रुति' के दो सिद्धांतों– अर्थात् प्रभुत्व की प्राथमिक अभिव्यक्ति की बाहरी प्रतिनिधि हैं, जो सृष्टि में विद्यमान– दृश्य और अदृश्य– सभी कुछ के लिए उत्तरदायी है। गिरजे के कुछ बड़े पदाधिकारियों से, पूछे जाने पर, उन्होंने यही बताया कि घंटा लोगों को इकट्ठा करने के लिए बजाया जाता है, ताकि प्रार्थना में सब लोग शामिल हो सकें, और प्रभु को ज्योतियों का पिता कहना (याकूब 1:15) मात्र प्रभु के महानतम उपहारों की ओर, जिनमें तर्क-वितर्क की बौद्धिक ज्योति शामिल है, संकेत करने के लिए अलंकारिक भाषा है। क्योंकि अब इन लोगों के पास आंतरिक सच्चाइयों का अनुभव नहीं है, अतः वे उसका अर्थ शाब्दिक तौर पर लेते हैं और सिद्धांत के तौर पर उसकी व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

ईसा ने स्वयं स्पष्ट शब्दों में, बिना किसी द्वयार्थक शब्दों के उद्घोषित किया था :

> **मैं संसार की ज्योति हूँ, वह जो कोई मेरा अनुसरण करेगा, अंधेरे में नहीं रहेगा, बल्कि उसे जीवन की ज्योति प्राप्त होगी।**
>
> – पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 8:12)

अपने आपको 'जीवन की ज्योति' कहने का तात्पर्य सूरज की ज्योति नहीं हो सकता, यद्यपि भौतिक संसार में वह जीवनदात्री ऊर्जा का एक बड़ा स्रोत है। मत्ती (13:14) में ईसा, जब वह और 'सुनने' और 'समझने', तथा 'देखने' और 'अनुभव' में भेद बताते हैं, इस स्थिति को स्पष्ट करते हैं और उनके वचनों का केवल शाब्दिक व्याख्या करने के प्रति सावधान करते हैं। ये केवल जाग्रत आत्माएँ अर्थात् सत्य के साथ जीवित सम्पर्क में अवस्थित सत्गुरु ही ऐसे होते हैं, जो आत्मिक साम्राज्य की कुँजी पर

अधिकार रखते हैं और किसी व्यक्ति को, जो अब मन-इन्द्रियों के जीव में पूरी तरह से खोया हुआ है, उसे वहाँ से निकाल सकते हैं और उसके लिए सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण ज्योति की महान विरासत की पुन: खोज करा सकते हैं– और तभी यह कहा जाता है कि,

> **अंधों की आँखें खोली जायेंगी और बहरों के कान खोले जायेंगे, और तब लंगड़े मनुष्य छलांगे मारने लगेंगे और मूक लोगों की जिह्वा गाने लगेगी, पथरीले जंगलों में पानी के झरने फूट पड़ेंगे और रेगिस्तानों में नदियाँ बह निकलेंगी।**
>
> – पवित्र बाइबिल (यशायाह 35:5-6)

हममें से बहुत कम लोग हैं, जो ईसा के शब्दों की आंतरिक महत्ता को वास्तव में समझते और महत्व देते हैं। हम तो केवल उनकी नैतिक शिक्षाओं को मानकर ही संतुष्ट हो जाते हैं, जो वास्तव में, मात्र आध्यात्मिक शिक्षाओं का सहचर्य करने वाला एक आवश्यक पक्ष है। मूसा के समय से ही, नैतिक आदेशों का दूर-दूर तक प्रचार हुआ है, और उन्हें उद्यम से जीवित रखा गया है, क्योंकि वे मानवीय मूल्यों के नैतिक स्तर में वास्तव में एक महान प्रगति इंगित करते हैं। परन्तु, वे स्वयं ही अपनी ऐसी उद्घोषणाओं का उत्तर देने में असफल हो जाते हैं– जैसे, "अंतिम न्याय या क़यामत का दिन" – पवित्र बाइबिल (मत्ती 12:36) *अथवा "पश्चाताप करो, क्योंकि स्वर्ग की बादशाहत आने वाली है"* – पवित्र बाइबिल (मत्ती 4:17) *अथवा "प्रभु आत्मा है और जो कोई भी उसकी आराधना करना चाहते हैं, उन्हें उसे आत्मरूप में और सत्य के रूप में पूजना चाहिए।"* – पवित्र बाइबिल (यूहन्ना 4:24) *यदि इन उक्तियों को उनके शाब्दिक अर्थ में लिया जाये, तो वे निरर्थक रह जायेंगी। 'क़यामत का दिन', इसके सन्निकट आने की भविष्यवाणी होने के बाद भी, आने में असफल रहा है अर्थात् या यह मानें कि ईसा ने अज्ञानता में ऐसा कहा या फिर यह कि ईसा के आदेशों का वास्तविक अर्थ समझने में हम असमर्थ रहे हैं। जो कुछ उन्होंने कहा, उस सभी के पीछे एक आंतरिक अर्थ निहित है, जो उन्हीं के सामने स्पष्ट होता है, जिनका आत्मिक अनुभव वैसा ही रहा हो, किन्तु जो उसका अर्थ बौद्धिक स्तर या अंतर्बोध के स्तर पर भी समझने का प्रयास करते हैं, यह उनको भ्रम में डालता है।*

हमें (दार्शनिक तर्कों एवं अनुमानों से भिन्न) प्रत्यक्ष आंतरिक अनुभव नहीं होता, इसलिए हम उनकी शिक्षाओं के महत्व को अपने सीमित अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में उसका अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं। जो एक रूपक होता है, हम उसका शाब्दिक अर्थ लगा लेते हैं, और परा-ऐन्द्रियक बोध को हम रूपक मात्र समझ लेते हैं। हम यह आसानी से भूल जाते हैं कि जब ईसा ने अपने आपको 'संसार की ज्योति' और 'परमात्मा का पुत्र' कहा, तथा अपने आपको ऐसा मार्गदर्शक कहा जो "अपने शिष्यों को कभी नहीं छोड़ेगा, संसार के अंत तक भी नहीं," तो ऐसा उन्होंने अपनी नश्वर शारीरिक हैसियत में नहीं कहा, अपितु उन अन्य सभी सत्गुरुओं के समान ही ऐसा कहा, जो शब्द में लीन होते हैं और उसके साथ एकमेक होते हैं। हम इसे भूल कर, उनके द्वारा दिखाए गए आध्यात्मिक मार्ग पर चलने की बजाय, उन्हें केवल एक बलि का बकरा मान लेते हैं, जो हमारे पापों को ढोता है और इस प्रकार उन्हें आंतरिक आध्यात्मिक चुनौतियों से क़तराने का साधन बना लेते हैं।

III. इस्लाम मत

जैसा कि नाम से ही इंगित होता है, इस्लाम धर्म उन सभी लोगों के लिए शांति और सद्‌भावना का धर्म है, जो पैग़म्बर मुहम्मद में विश्वास करते हैं और उनके आदेशों का पालन करते हैं। प्रत्येक धर्म, जो अस्तित्व में आता है, उसे प्रभु के ही कार्य का संपादन करना होता है, उस समय की ज़रूरत के अनुसार, और मनुष्य के धार्मिक इतिहास में जो रिक्तता आ जाती है, उसे पूरा करने के लिये ही उसका उदय होता है। पैग़म्बर मुहम्मद भी एक ऐसे ही समय में और एक ऐसे ही स्थान में आये, जब अरब समाज जातीय अंधविश्वास, मूर्ति पूजा, समाजिक पतन एवं नैतिक पतन से ग्रस्त था। उनका भी यहूदी भाइयों और ऐसी ही दूसरी जातियों की तरह पतन हो चुका था।

अरब और यहूदी, दोनों मूल रूप में शामी (semitic) ही हैं और अब्राहम के वंशज हैं : उन में से एक इस्माइल के वंशज थे, जिन्हें देश-निकाले के बाद पूर्व की ओर जाना पड़ा, और दूसरे, उनके भाई ईज़ाक के वंशज, जो फ़िलिस्तीन की सीमा के भीतर ही रहे। सुदृढ़ और बलिष्ठ बीदाउन

रेगिस्तानी क़बीले, जो केवल इन्द्र और कुबेर (मदिरा व धन-दौलत के देवता) के प्रति वफ़ादार थे, पूर्णतया अज्ञान से घिरे थे और सदैव ही एक दूसरे से लड़ते झगड़ते रहते थे। ऐसे लोगों को बचाने के लिये ही प्रभु ने एक अत्यन्त धार्मिक गडरिये बालक, मुहम्मद को अपने सबसे अधिक चुनिन्दा रूप में उच्चतम प्रतिनिधि के रूप में चुना, जो मनुष्यों को सब से अधिक कृपालु प्रभु का आदेश दे सके। उन्हें वह दैवीय आदेश मक्का के उपनगर में 'ग़ार-ए-हीरा' की निर्जन गुफा में अनेक वर्षों तक तीव्रता के साथ आत्मिक तप करते रहने के बाद ही मिला।

उन्होंने अपना मिशन सच्ची विनम्रता के साथ प्रारम्भ किया। उनका उद्देश्य चमत्कार दिखाना या आश्चर्यजनक कार्य करना नहीं था, जिनको उन्होंने सदा विरोध ही किया और जिनसे वे दूर ही रहे, वरन् उन्होंने एक आम इन्सान की ही भाँति रहकर प्रभु के शब्दों के एक साधारण प्रचारक के रूप में कार्य किया। उनका संदेश मुख्य रूप से एक प्रभु का था, जैसा कि उन्होंने ज़ोर देकर उद्घोषित किया :

ला इलाह इल्लिल्लाह,
मुहम्मद रसूलिल्लाह।

(प्रभु के सिवाय कोई दूसरा नहीं है, और उस का नाम अल्लाह है। मुहम्मद उसका संदेशवाहक है, संदेशा पहुँचाने वाला है।)

अपने इस एकेश्वरवाद के मूलभूत आधार पर उन्होंने अपनी नैतिक शिक्षाओं और जनतांत्रिक भाईचारे की प्रणाली का निर्माण किया, जिसकी वास्तव में उस समय में आवश्यकता थी, जिसे उन्होंने प्रशंसनीय ढंग से पूरा किया। उस बर्बर, क्रूर, और बौद्धिक रूप से अर्ध-विकसित जाति के लिये, वे उनके विचार करने के लिए कोई आध्यात्मिक सिद्धांत नही कर सकते थे, विशेषकर उस समय में जब उनकी साधारण शिक्षाओं को भी लोगों ने ग़लत समझकर उनका उपहास किया और मज़ाक उड़ाया, और उनकी निन्दा की, जिसके चलते बाद में उन्हें और उनके अनुयायियों को मदीना भागना पड़ा, ताकि वे सुरक्षित रह सकें। 622 ईस्वी में उनके श्रद्धालु अनुयायी मक्का छोड़ कर मदीना चले गये। इसके बाद, उनके नवजात आस्था को बड़े कठिन संघर्ष का सामना करना पड़ा, जिसके बचाव और प्रचार के लिये, पैग़म्बर को आत्म-संरक्षण में तलवार उठानी पड़ी।

इस धर्म के संघठन के कार्य में लगभग 100 वर्षों का समय लगा, जिसके बीच लगातार लड़ाई निरन्तर चलती रही। परिणामस्वरूप, पूर्व से पश्चिम तक, जिसके एक ओर भारतीय महासागर था तो दूसरी ओर एटलांटिक महासागर, एक महान साम्राज्य स्थापित हो गया।

'कुरान' यानी इस्लामिक बाइबिल एक महान आश्चर्यजनक धर्मग्रंथ है, एक सर्वश्रेष्ठ चमत्कार है, जिसमें उस समय की सभी वस्तुओं को पीछे छोड़ दिया। इसमें कुल 144 सूरा अर्थात् अध्याय हैं, जिनमें से प्रत्येक में 286 से लेकर 6 तक पद्य हैं- इनमें पद्यों की सख्या घटती जाती है। यह शानदार और परिष्कृत अरबी भाषा में हैं, जिसे थोड़े-थोड़े अंशों में, निरक्षर पैग़म्बर को आत्यंतिक ध्यान के क्षणों में प्रभु के देवदूत, जिब्राइल फ़रिश्ते ने उद्घाटित किया था, जिनकी अवाज़ घंटी की लगातार रहने वाली ध्वनि में से निकलती थी और धीरे-धीरे ध्वनि, आकार व रूप धारण कर लेती थी।

कुरान की साधारण शिक्षाएँ अल्लाह, उसकी मख़्लूक (रचित सृष्टि), इन्सान तथा क़यामत का दिन के आसपास केन्द्रित हैं। क्योंकि अल्लाह वास्तविक हैं और मौलिक रूप से नेक हैं, अत: प्रत्येक को जीवन में अपने कर्मों का हिसाब देना है, और जो कोई भी प्रभु की राह से भटकता है, उसे अपने आगामी जीवन में उसकी पूरी ज़िम्मेवारी लेनी होगी और क़यामत (प्रलय) अर्थात् फ़ैसले के दिन उसका परिणाम भुगतना होगा।

मनुष्य के लिये शांति और सदाचार का जो रास्ता बतलाया गया है, उसमें 1. 'शहादा' या अल्लाह के प्रति न्यौछावर रहना। 2. 'सलात' या दिन में कम से कम पाँच बार नमाज़ या प्रार्थना करना खड़े होकर, बैठकर, झुककर या लेटकर, ताकि लगातार स्मरण बना रहे, जोकिसी भी स्थान पर प्रार्थना की चादर (सजदा) बिछाकर तथा आस्था के केन्द्र मक्का की ओर मुँह करके की जा सकती है। 3. 'ज़कात' यानी दान– अपनी आय के चालीसवें भाग का वर्ष में एक बार, ग़रीबों, असहायों और ज़रूरतमंदों के लिए करना, ताकि सभी लोग एक इन्सानी परिवार के सदस्य के रूप में आपस में मिल बाँट कर निर्वाह कर सकें। 4. 'रोज़ा'– व्रत, रमज़ान के महीने में रखना, ताकि श्रद्धालु यह जान सकें कि भूख क्या होती है और वे भूख से पीड़ित लोगों के दुखों को दूर करना सीखें और साथ ही

आध्यात्मिक अनुशासन, प्रभु का प्रेम और अपने साथी भाइयों के लिये करुणा धारण कर सकें, और अंत में 5. 'हज' अर्थात् मक्का की तीर्थयात्रा– जो इस्लाम धर्मपरायण लोगों के लिये ईसाइयों के येरुशालेम है, अपने जीवन काल में कम से कम एक बार, साधारण धोती चादर में निर्वाह करके, जो सभी– ग़रीब और अमीर को, कम से कम कुछ समय के लिए, एक समान कर देती है।

ये संक्षेप में इस्लाम धर्म की सामाजिक शिक्षाएँ हैं, जिसकी रचना अरब समाज की भलाई के लिये की गई थी। परन्तु, कुरान में उस आध्यात्मिक अभ्यास व साधना के बारे में, जो पैग़म्बर ने स्वयं की थी, जिसके द्वारा वे एक साधारण ऊँट चालक से उच्च स्तर के राजनीतिज्ञ और पैग़म्बर बन गए, कुछ ख़ास वर्णन नहीं मिलता है। इस बात से यह एक बार पुनः पुरातन सिद्धांत सिद्ध हो जाता है कि कोई ऐसा विज्ञान भी है, जिसके ज्ञात हो जाने से सब का ज्ञात हो जाता है, जिसके द्वारा विश्व के हृदय के साथ तदात्मय हो जाता है और ऐसा 'मरक़बा' या ध्यान की अवस्था में होता है। संतों द्वारा हमें बताया गया है कि घार-ए-हीरा की गुफा में एकांत में अभ्यास 'शुग़ल-ए-नासिरी' अथवा अनाहत-नाद योग का अभ्यास था, जो अल्लाह की बादशाहत खोलने के लिये एक चमत्कार की तरह काम करता है।

शेख़ मुहम्मद अकरम साबरी हमें बताते हैं कि पैग़म्बर ने 15 वर्षों तक 'आवाज़-ए-मुस्तक़ीम' (आंतरिक अनाहद-नाद की ध्वनि) में तन्मय होने का अभ्यास किया, जिसके बाद ही उन्हें प्रभु की ओर से संदेश प्राप्त होने शुरू हुए। हमें यह भी पता लगता है कि पैग़म्बर ने 'शक़-उल-क़मर' अर्थात् दूधिया सफ़ेद 'बुराक़' (जिसका दोनों, रूपक व शाब्दिक तौर से अर्थ 'बिजली' या 'विद्युत' है) पर सवार होकर चाँद को दो टुकड़ों में तोड़ा था। स्पष्ट ही यह उन लोगों के आंतरिक अनुभव की ओर संकेत है, जो अनाहत शब्द-धारा के मार्ग की यात्रा करते हैं और यह जानते हैं कि उन्हें एक बड़े तारे को और उसके बाद, चन्द्रमा को पार करना होता है। आज हम प्रतीक रूप में सितारे और अर्धचन्द्र को मुस्लिम झंडों, सिक्कों और डाक की मोहरों आदि पर देखते हैं। पुनश्चः, ईद के दिन चांद को आसमान में देखकर अत्यंत ख़ुशी और प्रसन्नता व्यक्त की जाती है और मुसलमान धर्म के लोग उसे देखने को उत्सुक और बेचैन रहते है और घर की छतों

पर खड़े होकर क्षितिज पर चन्द्रमा को उगते हुए देखने की प्रतीक्षा करते हैं, किन्तु इनके द्वारा इंगित आन्तरिक महत्व उन्हें पता ही नहीं होता। पुस्तक से जुड़े रहते हुए, उन्हें सही तरह से 'किताबी' कहा जाता है। अब तक जितने भी पैग़म्बर संसार में आये, मुहम्मद साहब उनकी श्रृंखला में अंतिम हो सकते हैं, परन्तु कुरान में इस बात पर भी ज़ोर दिया जाता है कि प्रभु से सम्बंध स्थापित करने के लिये किसी मध्यस्थ को ढूँढ़ने की भी आवश्यकता होती है।

इन संदर्भों के अतिरिक्त, हमारे पास मुस्लिम सूफ़ी संतों के निर्विवाद साक्ष्य हैं, जिन्होंने अविस्मरणीय शब्दों में संरक्षक जीवन-रेखा को ''कलाम-ए-क़दीम', 'बांग-ए-इलाही', 'निदा-ए-आसमानी', 'सौत-ए-सरमदी' कहकर गुणगान किया है, जो सभी अनहद शब्दधारा ('इस्म-ए-आज़म') को सूचित करते हैं, जोकि सम्पूर्ण सृष्टि को पैदा करने वाली जीवन सत्ता अर्थात् 'कलमा' है। इसी ने 14 तबक़ों अर्थात् मंडलों की रचना की है। ऐसे सूफ़ी संतों की श्रेणी में आने वाले महापुरुषों में शम्स तबरेज़, मौलाना रूमी, हाफ़िज़ शिराज़ी, अब्दुल रज़्ज़ाक काशी, हज़रत इनायत खाँ, बाबा फ़रीद, बुल्लेशाह, शाह नियाज़, हज़रत अब्दुल क़ादर, हज़रत मियाँ मीर, हज़रत बाहू, हज़रत निज़ामुद्दीन और अनेक अन्य सूफ़ी शामिल हैं, जिन्होंने 'सुल्तान-उत्न-अज़कार' या सर्वोच्च शब्द-धारा का अभ्यास किया था। 'फ़ुक़रा-ए-क़ामिल' अर्थात् मार्फ़त अथवा सच्चे विवेक की दुनिया में यात्रा करने वाले दोनों शरीयत और तरीक़त अर्थात् धर्मग्रन्थों और हदीस अर्थात् परम्परा के मार्गों को दरकिनार करके आगे बढ़ जाते हैं।

हज़रत इनायत खाँ ने अपनी पुस्तक, 'शब्द ध्वनि का रहस्यवाद' में सृष्टि को 'प्रभु का संगीत' कहा है और हमें यह बतलाया है कि 'सौत-ए-सरमदी', प्रभु के स्वर्गिक उपवन की नशीली मदिरा है। वे कहते हैं कि,

> **सम्पूर्ण आकाश 'सौत–ए–सरमदी' अर्थात् अनहद नाद से भरा है। इस ध्वनि की तरंगें इतनी सूक्ष्म हैं कि इसे न तो बाहरी कानों से सुना जा सकता है और न ही उसे बाहरी आँखों से देखा जा सकता है, क्योंकि बाहरी मंडल के स्तर पर तो इनइ आँखों के द्वारा आकाशीय तरंगों के रंग या रूप को भी देखना कठिन है। यह 'सौत–ए–सरमदी' की नादध्वनि ही थी, जिसे मुहम्मद साहिब ने हीरा की गुफा में**

बैठकर सुना था, जब वह अपने इष्ट में पूरी तरह से खो गये। कुरान में इसे 'कुन-फ़ि-यक़ून' कहा गया है, जिसका अर्थ है कि "हो जा, और बस सब कुछ हो गया।" मूसा ने भी इसी ध्वनि को कोहे-नूर अथवा सिनाई की चोटी पर उन क्षणों में सुना था, जब वे प्रभु के साथ एकमेक थे। ईसा मसीह ने एकान्त में अपने स्वर्गिक पिता प्रभु की याद में तल्लीन होकर उसी शब्दनाद को सुना। भगवान श्री कृष्ण की वंशी उसी अनाहतनाद की ध्वनि का प्रतीक है। यह नादध्वनि ही सभी सत्गुरुओं के द्वारा सभी रहस्यों को जान लेने का साधन है, जोकि उनके अन्दर ही प्रकट हुई। यही कारण है कि उन सभी ने इसी एक सत्य ही का साक्षात्कार किया और उसका ही उपदेश दिया। इसी अदृश्य वास्तविकता में प्रभु से महापुरुष एकमेक हो जाते हैं ।

यह सार ध्वनि मनुष्य के भीतर, बाहर तथा आसपास हमेशा ही गुंजायमान रहती है। जो इसे सुनने में समर्थ हो जाते हैं, और इस पर ध्यान करते हैं, वे सभी चिंताओं अग्रताओं, दुखों, भयों, और रोगों से मुक्त हो जाते हैं। उन आत्मा इंद्रियों एवं स्थूल शरीर की क़ैद से आजाद हो जाती है और सर्वव्यापी चेतनता का अंश हो जाती है।

यह ध्वनि दस विभिन्न अवस्थाओं में विकसित होती होती है, क्योंकि वह शरीर की विभिन्न नाड़ियों में से अभिव्यक्त होती है। वह बादल की गर्जन, समुद्र की गर्जन, घंटियों की ध्वनि, भ्रमर की झनझनाहट, चिड़ियों की चहचहाहट, वीणा, बाँसुरी, शंख की ध्वनि के रूपों में सुनाई पड़ती है, और अंततः 'हू' में परिवर्तित हो जाती है, जोकि आवाज़ों में सबसे पवित्र है- चाहे वे मनुष्यों पक्षी, जानवर या अन्य किसी वस्तु की हो।

अब्दुल वाहा ने अपने एक प्रवचन में कहा है कि,

हमें प्रभु का शुक्राना करना चाहिए कि उसने हमारे लिये सांसारिक वरदान एवं आध्यात्मिक उपहार- दोनों निर्मित किए हैं। उसने हमें भौतिक उपहार व रूहानी कृपाएँ दी हैं- बाहरी नज़र दी है, ताकि हम सूर्य की ज्योति को देख सकें और आंतरिक दृष्टि, जिससे हम प्रभु की भव्यता को देख

सके। उसने हमें बाहरी कान दिए, ताकि हम ध्वनि संगीत का आनन्द ले सकें और आन्तरिक श्रवण शक्ति दी, ताकि हम अपने सृष्टिकर्ता की आवाज़ को सुन सकें।

फ़ारस के आध्यात्मिक महापुरुष, बहा'उल्लाह के 'रहस्यमयी शब्दों' में हमें यह उल्लेख मिलता है :

ऐ मिट्टी की संतान! अदृश्य के मंडलों से जो रहस्यमयी ध्वनि पुकार रही है, उसे सुनो। अपने स्थूल शरीर की क़ैद से ऊपर उठो, ऊपर के भव्य मंडलों में चढ़ो, और अपने नश्वर शरीर के पिंजरे से ऊपर उठकर शून्य के स्वर्ग में उड़ान भरो।

अन्य अनेक सूफ़ी-संतों ने इसी प्रकार वर्णन किया है :

तुरा ज़ किंगरा-ए-अर्श मीज़नंद सफ़ीर,
न-दांमत किह् दरीं दामगह चिह् उफ़्तादस्त।

— दीवाने–हाफ़िज़ (पृ.54)

(स्वर्ग की दुनिया से प्रभु तुम्हें अपने घर बुला रहा है। अफ़सोस! कि तुम उस स्वर्गीय पुकार को नहीं सुनते।)

कस न-दानिस्त किह् मंज़ल गहे-मअशूक़ कुजास्त,
ईं क़दर हस्त किह् बांगे-जरसे मी आयद।

— दीवाने–हाफ़िज़ (पृ.200)

(उस प्रभु प्रियतम के महल को कोई नहीं जानता। परन्तु, यह निश्चित है कि यह घंटियों के बजने की ध्वनि वहीं से आ रही है।)

गुफ़्त पैग़म्बर कि आवाज़े-ख़ुदा, मी रसद दर गोशे-मन हमचू सदा।
मुहर बर गोशे-शुमा बिनहा-दे-हक़, ता ब-आवाज़े-ख़ुदा नारद सबक़।

— मसनवी मौलाना रूमी (दफ़्तर 2, पृ.273)

(हज़रत मुहम्मद साहिब कहते हैं कि ख़ुदा की आवाज़ मेरे कानों में आम आवाज़ों की तरह आती है। मालिक ने तुम्हारे कानों पर मोहर लगा दी है जिसकी वज़ह से तुम ख़ुदा की आवाज़ को नहीं सुन सकते।)

ऐ ख़ुदा बनुमा तू जां रा आं मक़ाम,
कान्दरू बे हर्फ़ मी रोयद कलाम।

— शाह नियाज़

(हे मालिक! मुझे वह मुक़ाम बता, जहाँ तेरा कलाम बग़ैर अक्षरों के अपने आप हो रहा है।)

ज़बानी कलमा हर कोई पढ़दा,
दिल दा कलमा कोई हू।
जित्थे कलमा दिल दा पढ़ीऐ,
ओथे जीभे मिले न ढ़ोई हू।

– हज़रत सुल्तान बाहू (बैत 102)

(कलमा को सभी मुख से उच्चरित शब्दों द्वारा दुहराते हैं, परन्तु विचार की जिह्वा द्वारा उसे कोई विरली आत्मा ही दुहराती है, मानसिक तौर से उससे सम्बंध जोड़ती है। वह उसका शब्दों में बयान नहीं कर सकती।)

तज़करा-ए-ग़ौसिया (पृ.332) में अमीर ख़ुसरो ने, जो एक महान आध्यात्मिक कवि और एक प्रतिष्ठित विद्वान थे, दस प्रकार की आवाज़ों का वर्णन किया है, जिन्हें अन्दर सुना जाता है और वे उसके बारे में बड़ी सुन्दरता से कहते हैं :

दस प्रकार अनहद बजे जित जोगी हो लीन।।
इंदरी थकी मनुआ थके खुसरो ने कहि दीन।।
अनहद बाजे बाजन लागे। चोर नगरीआ तज तज भागे।।
गुरु निज़ाम की भी दुहाई। खुसरो ने अंतर लिव लाई।।

– अमीर ख़ुसरो

(ऐ ख़ुसरो, यह वास्तव में स्वर्गिक संगीत की स्वरलहरी है, जिसमें एक योगी की आत्मा लीन हो जाती है। ऐसा तब होता है, जब इंद्रियाँ स्थिर और मन शांत हो, ऐसा ख़ुसरो कहते हैं। अन्तर में उस अनन्त धारा के फूटने के साथ ही सभी शारीरिक इच्छाएँ और पाप समाप्त हो जाते हैं, सत्गुरु, मुर्शिदि-क़ामिल का भी अपना आश्चर्यजनक संसार होता है और ख़ुसरो अब अपनी आत्मा की गहराई में समा गया है।)

ऊपर के वर्णन से साफ़ तौर पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अनाहत नाद की शब्द धारा का आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभव प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच के अन्दर है, बशर्ते कि एक ऐसा समर्थ सत्गुरु मिल जाए, जो अपनी जीवनधारा शिष्य को देने में सक्षम हो और मनुष्य के अन्दर की चेतनता को उसके अस्तित्व के केन्द्र तक ले जा सके, और फिर उसके आन्तरिक

आँख और आन्तरिक कान खोलकर प्रभु की 'ज्योति' और 'श्रुति' के साथ उसका सम्पर्क करा दे।

इन बातों का संकेत क़व्वालियों अर्थात् बाहरी संगीत और रूनझुन करती घंटियों के साथ 'रक़्स' अथवा नृत्य में देखा जा सकता है, जिसमें कुछ मुस्लिम लगे रहते हैं, ताकि 'वज्द' (ऐसी अवस्था, जिसमें बाहरी दुनिया भूली जाती है) हासिल कर सकें, जिसे उच्चतर आंतरिक रास्ते का साधन माना जाता है।

IV. सिक्ख मत

सिक्ख धर्म संसार के विभिन्न धर्मों में सबसे नवीन है, जिसका प्रारम्भ दस महान गुरुओं की परम्परा में प्रथम, गुरु नानक देव जी के समय में माना जाता है। अन्य धर्मों की भाँति ही, समय बीतने के साथ ही इस धर्म ने भी एक पृथक् धर्म का रूप ग्रहण कर लिया। इस के गुरुओं ने अपनी शिक्षाओं के बारे में कभी किसी नवीनता का दावा नहीं किया। दरअसल, उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया गया कि उनकी शिक्षाएँ पुरातन और सनातन से सनातन हैं। आध्यात्मिक संदेश की सार्वभौमिकता पर बल देने के लिये ही पाँचवें गुरु, गुरु अर्जनदेव ने, जिन्होंने 'श्री आदि ग्रंथ' का सम्पादन किया, जो सिक्खों का पवित्र ग्रंथ है। इसमें सभी जातियों और मतों के संतों की आध्यात्मिक रचनाओं में से प्रार्थनाओं एवं भक्ति-गीतों का सकंलन किया, जिनमें मुस्लिम जुलाहे कबीर साहिब, धन्ना जाट, रविदास चमार, सदना क़साई इत्यादि शामिल हैं।

धार्मिक इतिहास में सिक्ख धर्मग्रंथों का अद्वितीय स्थान है। वे केवल सभी धर्मों की एकता व्यक्त करने के प्रथम सुविचारित प्रयास का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते, बल्कि उनके पद एक ऐसी भाषा में रचे गये हैं, जोकि अभी भी जीवित हैं और भूतकाल की वस्तु नहीं हैं। इसीलिए, उन्होंने अपनी पुरातन ताज़गी को नहीं खोया है और वे ब्रह्मवादी टीकाओं के बोझ के नीचे दब नहीं गए हैं। मुख्यतय:, भक्ति गीतों के रूप में होने के कारण, उनका असर केवल उपदेशात्मक नहीं है। वे एक इंन्सानमात्र का चित्रण करते हैं, जोकि अपनी समस्याओं, अपनी कमज़ोरियों, संसार की नश्वरता और प्रभु की शाश्वतता के गीत गाता है, और उसे अपने दिव्य निज घर

को प्राप्त करने हेतु अपने प्रयासों को और तेज़ करने के संकेत देता है। उनमें जो भाषा अपनाई गई है, वह सरल-सटीक है और संयोजनों से मुक्त है, जिससे कि उन्हें बेहतर तरीक़े से कविता के रूप में व लयबद्ध करके गाया जा सकता है। प्रत्येक कथन में एक दार्शनिक खोज और गहन अध्यात्म है, और फिर भी, उनकी लिखतें लोगों की अपनी भाषा में सीधे जनमानस के हृदय में उतर जाती हैं, जिनके अर्थ अन्तरहित हैं, जिनका प्रभाव चिरस्थाई रहता है।

इसके अतिरिक्त, सिक्ख मत किसी एक महापुरुष की देन नहीं है, बल्कि महान सत्गुरुओं की एक विस्तृत परम्परा से उत्पन्न हुआ है और एक मनुष्य आत्मिक जिज्ञासा के सभी प्रमुख पक्षों को सम्मिलित करता है। यदि बुद्ध ने मध्यमार्ग और अनासक्ति की आवश्यकता पर ज़ोर दिया और ईसा ने प्रेम की आवश्यकता पर, तो सिक्ख मत की शिक्षाएँ इन सभी पक्षों पर ज़ोर देने में सफल हुई गई हैं। इसके अतिरिक्त, तुलनात्मक रूप से थोड़े ही समय पूर्व अस्तित्व में आने के कारण दस महान गुरुओं के व्यक्तिगत जीवन के अभिलेख सुरक्षित रखे गये हैं और हमें उनकी यात्राओं और कार्यों के बारे में विस्तृत जानकारी उपलब्ध है। इस प्रकार की जानकारी उनके बारे में उपलब्ध नहीं है, जिन्होंने हिन्दू धर्म को 'उपनिषद्' प्रदान किए। उन महर्षियों की वाणी हमारे पास बहुत दूर से और अत्यन्त पुरातन पौराणिक काल से आती हुई मालूम होती हैं।

आंतरिक मार्ग एक व्यावहारिक मार्ग है और मनुष्य को केवल दर्शन की ही आवश्यकता नहीं है, अपितु कुछ ऐसे जीवन के साक्षात्कार की भी आवश्यकता है, जो इसे दर्शाता है। चाहे हम गुरु नानकदेव जी की विनम्रता के बारे में पढ़ें, जब वे आत्म-ज्योति की मशाल लेकर जगह-जगह पैदल घूमे, चाहे गुरु गोबिंद सिंह जी के बारे में पढ़ें, जो सिक्ख गुरुओं में अंतिम थे, जो देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घोड़े पर सवार होकर घूमते रहे और अपने सिक्ख अनुयायिओं को भाईचारे में संगठित करते रहे, ताकि वे शक्ति का मुक़ाबला शक्ति के साथ कर सकें और औरंगज़ेब जैसे कट्टर-पंथी शासक द्वारा भौतिक विनाश के ख़तरे का सफलतापूर्वक मुक़ाबला कर सकें, हम बार-बार यह अनुभव करते हैं कि परमात्मा का जीवन आंतरिक सम्पूर्णत्व का जीवन है, अस्तित्व की एक विधि और आत्मिक पूर्णता का

एक तरीक़ा, जिसे बौद्धिक दर्शन या तार्किक सिद्धान्तवाद से भ्रमित नहीं करना चाहिए। ऐसा व्यक्ति को, जिसने यह आत्मिक स्वतंत्रता प्राप्त कर ली हो, बाहरी कार्यों से प्रभावित या विचलित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसने परमात्मा की इच्छा को अपनी इच्छा बना लिया होता है और वह स्वयं अपनी ओर से कुछ भी नहीं करता। इसीलिये, अपने शिष्य-योद्धाओं को मुग़लों के विरुद्ध युद्ध में नेतृत्व प्रदान करते हुए भी गुरु गोबिंद सिंह जी यह गा सके :

साचु कहों सुन लेहु सभै
जिन प्रेम कीओ तिन ही प्रभ पाइओ।।

— दसम ग्रंथ (अकाल उसतति, पृ॰14)

सिक्ख गुरुओं के महान आध्यात्मिक संदेश की रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न करने का अर्थ यह होगा कि जो कुछ हम अधिकतर पिछले अध्याय में कह चुके हैं, उसी की पुनरावृत्ति की जाये। गुरु नानक और उनके समकालीन, संत कबीर की शिक्षाएँ 'सुरत-शब्द योग' के मार्ग में रहस्यवाद के आंतरिक श्रवण और दर्शन की अंतिम विकासावस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये दोनों ही महापुरुष सत्गुरु (जिनमें से एक तो सिक्ख गुरुओं की परम्परा में प्रथम थे और दूसरे वाराणसी के एक जुलाहे थे), बाहरी रस्म-रिवाज़ों, बौद्धिक तर्कवितर्कवाद तथा यौगिक कठोरता की निरर्थकता पर अनथक रूप से ज़ोर देते रहे।

संत मता कछु और है, खोजा सो पाई।

— कबीर साहिब की शब्दावली, भाग 2 (शब्द 26, पृ.11)

दोनों ही संतों ने जातिगत भेदभाव की निंदा की और सभी जीवन की एकता पर उस आत्मा की एकता पर, जिसके कारण ही प्रत्येक वस्तु अस्तित्व में है, वे ज़ोर देने में एक समान थे। दोनों संतों ने बारम्बार ज़ोर देकर यह कहा कि परमात्मा के साथ एकमेक होने का सबसे ऊँचा और सबसे सहज रास्ता 'नाद' अथवा 'शब्द' के मार्ग द्वारा ही है। वास्तव में, किसी भी धर्मग्रंथ में 'शब्द' (या 'वर्ड') की सर्वव्यापकता पर इतना ज़ोर नहीं दिया गया, जितना कि सिक्ख धर्मग्रंथों में अथवा कबीर साहिब की रचनाओं में

दिया गया है, जिसका एक चयन गुरु अर्जनदेव जी द्वारा श्री आदि ग्रन्थ में संकलित किया था। आंतरिक ज्योति, 'अन्तर-जोत' और आंतरिक संगीत, 'पंच-शब्द'– पाँच ध्वनि वाला शब्द, अनहद वाणी, जिसका संगीत सीमारहित है, एक केन्द्रीय विषय के रूप में ग्रंथ साहिब की लगभग सभी रचनाओं में सम्मिलित है।

गुरु नानकदेव जी द्वारा जपुजी, जो ग्रंथ साहिब के प्राक्कथन के रूप में आया है, सिक्ख धर्म-ग्रन्थों में निहित आध्यात्मिक दौलत का दिग्दर्शन कराने का कार्य संपादित करता है। यह एक अद्‌भुत संगीतमय, काव्य सौंदर्य से भरपूर और उससे भी अधिक, आध्यात्मिक ऊँचाइयों को स्पर्श करने वाली कृति है। यह परिपूर्ण सत्य की प्रकृति को पंचभौतिक जगत से पृथक् बतलाते हुए प्रारम्भ होता है :

एकंकार सति नामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।। ।। जपु ।।
आदि सचु जुगादि सचु।।
है भी सचु नानक होसी भी सचु।।

– आदि ग्रंथ (जप जी, मूल मंत्र, पृ॰1)

(एक ही सत्य है, जो अव्यक्त की अभिव्यक्ति है। वह सदा अस्तित्व में रहता है। वह नाम है, चेतन आत्मसत्ता है। संसार का वह रचयिता है, सर्वव्यापी है। वह सदा निर्भय है। उसका काई शत्रु नहीं है। वह अपने आप में परिपूर्ण है।)

वह एक ऐसा सत्य है, जो मनुष्य की तर्क बुद्धि और समझ से परे है :

सोचै सोचि न होवई जे सोची लख वार।।
चुपै चुप न होवई जे लाइ रहा लिव तार।।
भुखिआ भुख न उतरी जे बंना पुरीआ भार।।

– आदि ग्रंथ (जप जी पौड़ी 1, पृ॰1)

और फिर भी उस तक पहुँच जा सकता है, और वह रास्ता एक ही है :

हुकमि रजाई चलणा नानक लिखिआ नालि।।

– आदि ग्रंथ (जप जी 1, पृ॰1)

यह कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो हमसे बाहर हो, बल्कि हमारे अन्दर ही है। यह हमारे अस्तित्व का एक अंग है, हमारा सार है और जो कुछ

करने की आवश्यकता है, वह यही है कि हम उसके साथ एकरस हो जाएँ, क्योंकि उसके साथ एक रस हो जाने का अर्थ है, अहंकार के बंधन से मुक्त होना और इस तरह से माया के बंधन से छूट जाना :

हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ॥
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोइ॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 2, पृ॰1)

कोई व्यक्ति स्वयं को परमात्मा की इच्छा के साथ कैसे जोड़ सकता है? इसका उत्तर प्रारम्भ में ही दिया गया है :

गुर प्रसादि॥

यह विषय बाद में पद-16 में विस्तार से लिया गया है :

पंच परवाण पंच परधानु ॥ पंचे पावहि दरगहि मानु॥
पंचे सोहहि दरि राजानु ॥ पंचा का गुरु एकु धिआनु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 16, पृ॰3)

एक सच्चे सत्गुरु का उपहार 'नाम' का उपहार होता है, जिसमें वह स्वयं भी निपुण होता है। यह 'शब्द' प्रभु की इच्छा एवं उनके आदेश की अभिव्यक्ति है और उसकी सम्पूर्ण सृष्टि के अन्तर में व्याप्त है :

कीता पसाउ एको कवाउ॥ तिस ते होए लख दरीआउ॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 16, पृ॰3)

परमात्मा की इच्छा से ऐकमेक होने का रास्ता, उसके 'शब्द' के साथ एकमेक होने में है :

सुणिऐ सरा गुणा के गाह ॥ सुणीऐ सेख पीर पातिसाह॥
सुणिऐ अंधे पावहि राहु ॥ सुणिऐ हाथ होवै असगाहु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 11, पृ॰.3)

इसीलिए गुरु नानकदेव जी महाराज कहते हैं :

नानक भगता सदा विगासु ॥ सुणिऐ दूख पाप का नासु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 8, पृ॰2)

वडा साहिबु ऊचा थाउ ॥ ऊचे उपरि ऊचा नाउ॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 24, पृ॰5)

सम्पूर्ण सत्ता की प्रकृति का और उस तक ले जाने वाले रास्ते का वर्णन करने के बाद गुरु नानकदेव जी महाराज हमें उस के बारे में बतलाते हैं, जो इस आध्यात्मिक यात्रा को सफलतापूर्वक पूरा कराने के लिए आवश्यक है। वे कहते हैं कि बाहरी तौर पर संन्यासी होना ज़रूरी नहीं हैं, व्यक्ति को अपनी आत्मा के अन्दर संन्यासी होना चाहिए। बाहरी भेषों को छोड़ कर आंतरिक सद्‌गुणों को धारण करना चाहिए :

मुंदा संतोखु सरमु पतु झोली धिआन की करहि बिभूति॥
खिंथा कालु कुआरी काइआ जुगति डंडा परतीति॥
आई पंथी सगल जमाती मनि जीतै जगु जीतु॥
आदेसु तिसै आदेसु॥
आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 28, पृ॰6)

और अंत में, जपुजी के अन्तिम पदों में गुरु नानकदेव जी महाराज हमें आत्मा की इस तीर्थयात्रा के बारे में पुनः बतलाते हैं। हम पहला मंडल, जिसे पार करना है– वह है, 'धर्म-खंड'– कर्म का क्षेत्र, जिसे हम अच्छे व बुरे कर्मों के रूप में जानते हैं। उससे आगे 'ज्ञान-खंड' आता है– जो आंतरिक आत्मिक मंडलों में पहला है, जो देवताओं तथा उनके समान अन्य महान आत्माओं का मंडल है :

केते पवण पाणी वैसंतर केते कान महेस॥
केते बरमे घाड़ति घड़ीअहि रूप रंग के वेस॥
केतीआ करम भूमी मेर केते केते धू उपदेस॥
केते इंद चंद सूर केते केते मंडल देस॥
केते सिध बुध नाथ केते केते देवी वेस॥
केते देव दानव मुनि केते केते रतन समुंद॥
केतीआ खाणी केतीआ बाणी केते पात नरिंद॥
केतीआ सुरती सेवक केते नानक अंतु न अंतु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 35, पृ॰7)

यदि ज्ञान इस आत्मिक मंडल का प्रमुख शासनकर्ता गुण है, तो आनन्द उससे अगले मंडल का, 'सरम-खंड', जो आनन्द का खंड है। यह मंडल

वर्णन से परे है। इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, और जो कोई इसका वर्णन करना चाहता है, उसे अपनी मूर्खता पर पछताना पड़ेगा, क्योंकि कोई भी उसका वर्णन कर ही नहीं सकता है। यहाँ आकर, अंत में आत्मा अपने मानसिक विशेषणों से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जाती है और अंततः अपने असली आपे में आ जाती है :

तिथै घड़ीऐ सुरति मति मनि बुधि॥
तिथै घड़ीऐ सुरा सिधा की सुधि॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 36, पृ॰8)

परन्तु, उससे भी आगे, उच्चतर 'कर्म-खंड' है, जो दया का मंडल है– इसकी प्राप्ति अच्छे कर्मों तथा ध्यान करने से ही हो पाती है।

करम खंड की बाणी जोरु॥ तिथै होरु न कोई होरु॥
तिथै जोध महाबल सूर॥ तिन महि रामु रहिआ भरपूर॥...
तिथै भगत वसहि के लोअ॥ करहि अनंदु सचा मनि सोइ॥

– आदि ग्रंथ, (जप जी, पौड़ी 37, पृ॰8)

इस मंडल में आकर आत्मा अंततः सापेक्षता के भ्रम को पीछे छोड़ देती है और अब काल, मृत्यु और परिवर्तन उस पर प्रभाव नहीं डाल सकते। परन्तु, चूँकि आत्मा वहाँ सदैव परमात्मा की निरन्तर उपस्थिति में रहती है, इसलिए प्रभु की निराकार अवस्था में लीन होने के लिए और आगे जा सकती है :

सच खंडि वसै निरंकारु॥ करि करि वेखै नदरि निहाल॥
तिथै खंड मंडल वरभंड॥ जे को कथै त अंत न अंत॥
तिथै लोअ लोअ आकार॥ जिव जिव हुकमु तिवै तिव कार॥...
वेखै विगसै करि वीचारु॥ नानक कथना करड़ा सारु॥

– आदि ग्रंथ (जप जी 37, पृ॰8)

संसार अपने 'कर्म' सीमा से बंधकर अच्छे और बुरे कर्मों की पटरी पर चलता ही रहेगा। परन्तु,

जिनि नामु धिआइआ गए मसकति घालि॥
नानक ते मुख उजले केती छुटी नालि॥

– आदि ग्रंथ (जप जी, पौड़ी 38, पृ॰8)

ऐसा ऊँचा संदेश केवल सत्गुरु नानकदेव जी महाराज का ही नहीं था, अपितु उनके सभी उत्तराधिकारी महापुरुषों का भी रहा। उनके शब्द पंजाब के मैदानों में ग्रीष्म ऋतु में लगी आग की तरह हर ओर फैल गये, जिनके कारण जाति-पाति के झूठे भेदभाव, जो पतित ब्राह्मणवाद के कारण फैल रहे थे, समाप्त हो गये। उस समय में, जब मुस्लिम शासकों और हिंदुओं के बीच धार्मिक कट्टरवादिता बढ़ती जा रही थी, इन्होंने सभी सच्चे धर्मों की एकता प्रदर्शित की, जिसके कारण हिंदू धर्म रीति-रिवाज़ों व कर्मकांडों की प्रधानता से मुक्त होकर पवित्र हुआ, इस्लाम के समक्ष एक उच्चतर आदर्श स्थापित किया गया, जो उसने बाहरी नामों और रूपों के सामने भूल चुका था। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी कि सूफ़ी परम्परा सिक्ख धर्म के आन्दोलन के साथ-साथ पनपी और फली फूली। वास्तव में, कई अवसरों पर, इतिहास इंगित करता है कि उन दोनों बीच एक क्रियात्मक सहयोग रहा था। कुछ सिक्ख गुरु, विशेषकर गुरु नानक और गुरु गोबिंद सिंह और उनके अनुयायी भाई नंदलालजी 'गोया', फ़ारसी भाषा के विद्वान थे और उस भाषा में उन्होंने कुछ अनुपम रचनाएँ भी रचीं। कहा जाता है कि गुरु नानक जी ने मक्का की यात्रा की और अपने उत्तराधिकारियों की भाँति उनके बहुत से मुस्लिम शिष्य भी थे। हजरत मियाँ मीर जैसे सूफी संतों की मित्रता गुरु अर्जनदेव जी से थी। सूफ़ी संत और सिक्ख गुरु– दोनों ही धार्मिक हठधर्मिता के बंधनों से ऊपर थे और उन्होंने सार्वभौमिक भ्रातृभाव का उपदेश दिया। उन्होंने एक दूसरे पर अपना प्रभाव डाला और प्रभाव ग्रहण किया और यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि 'सुरत-शब्द योग' का रास्ता महान सूफ़ी संतों तथा सिक्खों के धार्मिक साहित्य में बराबर रूप से स्थान बनाये हुए हैं। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसे इनायत खाँ ने अपनी पुस्तक, 'शब्द का अध्यात्मवाद' ('The Mysticism of Sound') में वर्णित किया है, जिसका एक अनुच्छेद हमने पहले ही उद्धृत किया है।

परन्तु, प्राय: सभी सत्गुरुओं की शिक्षाएँ, उनके संसार के चले जाने के बाद संस्थागत होकर फीकी पड़ जाती हैं। सिक्ख गुरुओं का मत भी इस नियम से अछूता नहीं रहा है। यद्यपि जनसाधारण पर अब भी उनका प्रभाव है, फिर भी, जैसे अपने समय में वे लोगों को आध्यात्मिक साधना करने के लिए प्रेरित करते होंगे, ऐसा अब नहीं कर सकते। जोकिसी समय

सभी धर्मों के भेद दूर करने को प्रयत्नशील रहा, वह स्वयं अब एक नया धर्म बन गया है। जो जाति-पाति और जातिवाद को समाप्त करने चला था, उसमें स्वयं जातिचेतना उभर आई है। जिसने सभी बाहरी रीति-रिवाज़ों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, उसके अपने रीति-रिवाज़ बन गये हैं। प्रत्येक धार्मिक उत्सव पर लोग शब्द व गुरुवाणी के शब्द सुनते हैं, जिनमें आंतरिक महिमा का वर्णन होता है :

गिआनु धिआनु धुनि जाणीऐ अकथु कहावै सोइ॥

– आदि ग्रंथ (सिरी म॰1, पृ॰59)

पूरे गुर की साची बाणी॥
सुख मन अंतरि सहजि समाणी॥

– आदि ग्रंथ (धनासरी म॰3, पृ॰663)

बाणी बिरलउ बीचारसी जे को गुरमुखि होइ॥

– आदि ग्रंथ (रामकली म॰1, पृ॰935)

अनहद बाणी पूंजी॥
संतन हथि राखी कूंजी॥

– आदि ग्रंथ (रामकली म॰5, पृ॰893)

फिर भी, इन रचनाओं को उनमें छिपे हुए गहन आध्यात्मिक अर्थ को बिना समझे ही गाया जाता है।

सप्तम अध्याय

कुछ आधुनिक धार्मिक आंदोलन

विज्ञान का पश्चिम पर प्रथम प्रभाव धर्म को क्षतिग्रस्त करने वाला प्रतीत होता है। ईसाई धर्म, जो हठधर्मिता से बद्ध एक जटिल व कठोर संस्था के रूप में विकसित हुआ, विज्ञान द्वारा प्राप्त नये ज्ञान के दावों के साथ स्वयं को पुनर्व्यवस्थित करने की स्थिति में नहीं था। उसके अपरिहार्य परिणामस्वरूप दोनों की सीधी टक्कर हुई, जिससे धर्म अस्थिर सा रह गया और विज्ञान सुदृढ़ता से स्थापित हो गया। फिर भी, जैसा पहले एक अध्याय में हम देख चुके हैं, भौतिक विज्ञान स्वयं में सम्पूर्ण रूप से, अथवा पर्याप्त रूप से भी, जीवन की व्याख्या नहीं कर सकते। जबकि बाह्य विज्ञान अपनी बात पूरी तरह कह चुके हैं, तब भी अस्तित्व की कुछ अज्ञात समस्याएँ मानव मस्तिष्क को विस्मित तथा परेशान करे रखने के लिए शेष रह जाती हैं। पिछली शताब्दी ने बहुत से ऐसे आंदोलनों को उभरते देखा है, जिन्होंने किसी न किसी तरह से एक आंतरिक जीवन की ओर इंगित करने का प्रयास किया है, जिसे विज्ञान ने कम से कम कुछ हद तक नकारने की चेष्टा तो की है।

आधुनिक भारतवर्ष अनेक धार्मिक आंदोलनों की जन्मस्थली रहा है, परन्तु उनमें से अधिकांश उस ज्ञान का, जिसे हमारे पूर्वज पहले ही से जानते थे, पुनर्स्थापन के लिए थे– चाहे यह वेदांतवाद हो या फिर विभिन्न भारतीय यौगिक प्रणालियाँ हों, जिनका हमने कुछ विस्तार से निरीक्षण पहले ही कर लिया है। फिर भी, पश्चिम में प्रचलित कुछ आंदोलनों पर, जोकि पूर्व की परम्पराओं की ओर अभिमुख है या उनसे प्रभावित हैं, दृष्टिपात करना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

रोज़िक्रूशियनवाद, थियोसॉफ़ी तथा 'अहं-अस्मि' प्रक्रिया

ईसाई धर्म का पूरे यूरोप में निर्विवाद प्रभाव रहने के साथ-साथ ही आध्यात्मिक विद्या की कतिपय अपसिद्धांतवादी विचारधाराएँ लघु रूप में पनपती रहीं, जिनमें से सबसे प्रारम्भिक में से रोज़िक्रूशियनवाद एक है। परन्तु ये गुप्त-संगठनों के रूप में ही कार्यरत रहीं, जिन्हें जन-साधारण प्रायः सन्देह की दृष्टि से देखते थे। परन्तु जब संस्थागत ईसाइयत को विज्ञान के हाथों भुगतना पड़ा, तब इन्होंने अचानक अभूतपूर्व महत्ता ग्रहण कर ली। जिन व्यक्तियों का ईसाइयत में विश्वास, डार्विन और हक्सले के द्वारा हिलाया जा चुका था, परन्तु जो जगत की यांत्रिकी विचारधारा को स्वीकार नहीं कर सके, वे इन संगठनों की ओर इस आशा से मुड़े कि उन्हें वहाँ जीवन के बारे में कोई अधिक संतोषजनक स्पष्टिकरण प्राप्त होगा। उन में से बहुतों ने रोज़िक्रूशियनवाद की मान्यताओं को अपना लिया, जबकि अन्य लोगों ने पूर्व से प्रेरणा ले कर थियोसॉफ़िकल आंदोलन की स्थापना की। जबकि कुछ अन्य लोगों ने सेंट जर्मेन से प्रेरणा पाने का दावा करके, एक नए 'अहं-अस्मि' क्रिया ('I Am' Activity) का विकास कर लिया। ये आंदोलन परम्परागत रूप में अपने आप को धर्म होने का दावा नहीं करते, यद्यपि उनकी अपनी नियमावलियाँ हैं। ये अपेक्षातर रहस्यवादी संस्थाएँ हैं, जिनका एक सर्वनिष्ठ विश्वास है कि मानव जीवन अदृश्य उच्च ब्रह्मांडीय पराजीवों या उनके रहस्यवादी भ्रातृत्वों द्वारा निर्देशित और संचालित किया जाता है। इन पराजीवों से स्थूल जगत में सीधे मुलाक़ात नहीं की जा सकती है। वे या तो सुदूर घने पहाड़ों में बने दुर्गों में निवास करते हैं या पिंड से उच्चतर किसी मंडल से कार्य करते हैं। परन्तु व्यक्ति उन में विश्वास करके तथा एक विशेष अनुशासन का पालन करके उनका कृपापात्र बनकर उनके प्रभाव से लाभान्वित हो सकता है। यद्यपि ये सभी आंदोलन एक या दूसरे प्रकार से जीवन की एकात्मता में विश्वास करते हैं, परन्तु अभ्यास में वे केवल इसके छोर मात्र को स्पर्श करते प्रतीत होते हैं। अधिक से अधिक, शिष्य उन ब्रह्मांडीय जीवों में से किसी एक से सीधे सम्पर्क स्थापित करने की आशा कर सकता है, परन्तु जिस अवस्था में आत्मा उससे एकत्व प्राप्त करती है, जोकि काल व अकाल का स्रोत है, जिनके बारे में महान संत-सत्गुरुओं ने हमें बतलाया है, उसकी प्राप्ति कदाचित् व्यवहारिक नहीं

मानी जाती। पुनश्चः, क्योंकि व्यक्ति अपने जैसे ही किसी इन्सान से नहीं, जिसने असीम का अनुभव किया है, वरन् अदृश्य पराजीवों से मार्गदर्शन प्राप्त करता है, जिनसे वह कभी मिल न पाए, विस्तृत उपदेश व जीवन के प्रत्येक पहलू में पग-पग पर मार्गदर्शन का, जोकि 'सुरत-शब्द योग' की मूलभूत विशिष्टता है, अभाव रहता है। फिर भी, प्रत्येक अपने तरीक़े से, मानव-विकास को एक क़दम आगे ले जाने का प्रयत्न करता है, और यह उठाया गया क़दम निश्चत ही कोई नगण्य बात नहीं। इसलिए मैडम ब्लावात्स्की (Madame Blavatsky), 'मूक की ध्वनि' ('Voice of the Silence') में लिखते समय 'आंतरिक नाद' को परिभाषित करते हुए एक उच्च कोटि के आत्मिक अनुभव का वर्णन करती है :

> **पहली ध्वनि, बुलबुल की, जोकि वह अपने प्रियतम से बिछुड़ने पर विरह गान के रूप में गा रही हो, सुरीली कुहूक जैसी होती है। दूसरी ध्वनि, चमकते ध्रुव तारे का जाग्रत करती हुई ध्यानियों के चांदी के मंजीरों की ध्वनि के समान है। अगली आवाज़, अपने आवरण में क़ैद समुद्र परी के विषादपूर्ण राग की है। और इसके पश्चात्, वीणा के राग की ध्वनि आती है। पाँचवी, बाँसुरी की सुरीली तान की है, जोकि कानों को झकझोरती है। यह स्फोटमयी गर्जन में बदल जीती है। अंतिम, मंद गर्जन करते मेघों के प्रकम्पन की है।**

क्रिश्चियन साइंस (ईसाइयत का विज्ञान) तथा सुबुद्ध

ईसाइयत का विज्ञान (Christian Science Movement) एक अन्य पश्चिमी अपसिद्धांतवादी आंदोलन है, परन्तु जिनका हमने अभी उल्लेख किया है, उनसे यह भिन्न है, क्योंकि उन की अपेक्षा यह अन्य बातों पर बल देता है। यद्यपि यह एक आध्यात्मिक आधार को मानता है, परन्तु अभ्यास में यह उससे अधिक संबंधित नहीं है। यह ईसा के जीवन का अपने ही तरीक़े से व्याख्या करता है और अपना ध्यान सामान्यत: उनके द्वारा किए गए चमत्कारों पर ही केन्द्रित करता है। इसका कहना है कि परमात्मा अथवा सत्य नेक है और तमाम बुराइयाँ व बिमारियाँ इस आंतरिक शक्ति

से संपर्क टूटने का परिणाम हैं। ईसाइयत का विज्ञान ने अपना ध्यान इसी बात पर केन्द्रित करने की चेष्टा की है कि जो भी इस शक्ति के संपर्क में आ जाता है, वह सभी व्याधियों से छुटकारा पा सकता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि यह आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा स्वास्थ्य विज्ञान का अध्ययन बन कर रह गया है, तथा आत्म-सम्मोहन (auto-suggestion) तथा सम्मोहन (hypnotic-suggestion) द्वारा लोगों को चंगा करने तथा सत्य की शक्ति से चंगा करने (जैसा कि ईसाई-विज्ञान दावा करता है) के बीच अन्तर करना आसान नहीं रह जाता। बहुतों ने तो उनके संस्थापक, श्रीमती मेरी बेकर एड्डी (Mrs. Mary Baker Eddy) के मंतव्य के स्वभाव के बारे में ही प्रश्न उठाया है। परन्तु एक बात तो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि भले ही ईसाइयत का विज्ञान द्वारा किए गए उपचार किसी आध्यात्मिक स्रोत से उत्पन्न होते हैं, इसके अभिकर्ता इसके सचेतन स्वामी नही हैं, वे उच्चतर शक्ति से प्रत्यक्ष एवं सचेत सम्पर्क में कार्य नहीं करते, वरन् एक अवचेतन यंत्र की भाँति कार्य करते हैं।

यद्यपि 'सुबुद्ध' अथवा 'सोशील बोधि-धर्म' को, जिसे कि इंडोनेशियाई आध्यात्मिक गुरु पाक सुबेह ने संस्थापित किया, जोकि अब एक अन्त. र्राष्ट्रीय आंदोलन बन चुका है, ईसाइयत के विज्ञान के साथ वर्गीकृत करना जल्दबाज़ी होगी, दोनों में कुछ हद तक समानता देखी जा सकती है। सुबुद्ध में, ईसाइत के विज्ञान की अपेक्षा आध्यात्मिक आधार अधिक महत्वपूर्ण है, परन्तु फिर भी प्राय: उसका दिशानिर्देशन उसी दिशा में होता है। यह अपने अनुयायियों को 'लातिहान' नामक अभ्यासों के पश्चात कुछ रहस्यमयी मानसिक शक्तियों (psychic powers) के साथ संपर्क स्थापित करने की चेष्टा करता है। ऐसा नहीं लगता कि इससे प्रत्यक्ष रूप से चेतना का विकास हो सकता है, परन्तु यह मनुष्य की अवचेतन शक्ति (powers of intuition) में वृद्धि करके उसको प्रत्यक्ष रूप से समृद्ध ज़रूर करती है। चाहे मोहम्मद रौफ़ी (Mohammad Raufe) के अथवा जॉन बेन्नेट्ट (John Bennett) के अनुभवों को देख कर यह अनुभव किया जा सकता है कि सुबुद्ध के मामले में, व्यक्ति उच्चतर आत्मिक शक्तियों के लिए उनका चैतन्य सहकर्मी बने बिना ही उनका एक माध्यम के रूप में प्रयुक्त हो सकता है, जिससे लोगों की बीमारी का निवारण किया जा सके। इसका परिणाम यह

होता है कि उच्चतर और अधिक उच्चतर चैतन्य मंडलों में पहुँचाने के बजाय, जिससे अंत में वो असीम में लीन हो सके, व्यक्ति ऐसी मानसिक शक्तियों के प्रति, जोकि अनिवार्य रूप से उच्चतर क़िस्म की नहीं होतीं, एक निष्क्रिय ग्रहणशीलता विकसित करने की ओर अग्रसर हो जाता है। लातिहान के अभ्यास के दौरान कई व्यक्ति अजनबी पशुओं और पक्षियों के अनुभव उत्पन्न करते हैं, जोकि निर्विकल्प समाधि अथवा सहज समाधि से, जिनका वर्णन महान आध्यात्मिक विभूतियों ने किया है, बहुत दूर है।

प्रेतात्मवाद (Spiritism) *तथा आत्मिकवाद* (Spiritualism)

अन्तिम बात, पर कम महत्व की नहीं, यह है कि हमें अध्यात्म को प्रेतात्मवाद अथवा आत्मिकवाद से भिन्न समझना चाहिए, क्योंकि यह इन दोनों से काफ़ी अलग है। प्रेतात्मवाद शरीर त्याग चुकी आत्माओं में विश्वास कराता है, जिनका अस्तित्व भौतिक तत्व से अलग है, जोकि प्रेतात्मवाद मानने वालों के अनुसार भूत-प्रेत अथवा बुरी आत्माओं के रूप में अधलोकों में भटकती हैं या फिर परियों और श्रेष्ठ आत्माओं के रूप में सूक्ष्म मंडलों के निचले स्तर पर रहती हैं। कभी-कभी वह लोगों के व्यक्तिगत जीवन में भी दिलचस्पी लेने लगती हैं और अपनी चिर-काल से संजोई हुई अपूर्ण इच्छओं की संतृप्ति के लिए सभी प्रकार के छलबल द्वारा संतुष्टि प्राप्त करने का प्रयास करती हैं। कुछ व्यक्ति, जो काले जादू में विश्वास करते हैं, उन आत्माओं पर जादू-टोने द्वारा नियंत्रण स्थापित कर लेने का दावा तथा प्रदर्शन करते हैं। परन्तु उन गुरु के शिष्यों को इन आत्माओं के बारे में परवाह करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिसका नाम या पवित्र-शब्द से सम्बंध स्थापित हो चुका है, उसके निकट कोई भी दुष्प्रभाव नहीं आ सकता है, क्योंकि यह कहा गया है :

जह साधू गोबिद भजनु कीरतनु नानक नीत॥
णा हउ णा तूं णह छुटहि निकटि न जाईअहु दूत॥

– आदि ग्रंथ (गउड़ी म॰5, पृ॰256)

आत्मिकवाद, प्रेतात्मवाद से एक क़दम आगे बढ़ता है। इसका विश्वास है कि शारीरिक मृत्यु के बाद भी मानव व्यक्तित्व बना रहता है और मृत तथा जीवित के बीच सम्बंध स्थापित किया जा सकता है। आत्मिकवाद के

मानने वाले प्रायः इन तथाकथित प्रेतात्माओं से संपर्क स्थापित करने के लिए आत्मायनों (seances) का आयोजन करते हैं। उनकी कार्य-प्रणाली यह है कि वे किसी माध्यम के द्वारा कार्य करते हैं, जैसे कि कोई लेखनी, जिसके द्वारा मृत-आत्मा संदेश लिखती है या एक मेज़ जिसे वह खटखटा सके या फिर किसी व्यक्ति के द्वारा, जिसे बेहोश कर दिया जाता है, ताकि वह मृत-आत्मा उस के शरीर में प्रविष्ट होकर बातचीत कर सके। यह संचार-सम्बंध प्रायः पृथ्वी के स्थूल मंडल और सूक्ष्म मंडल के सबसे निचले मंडल के बीच, जिसे चुम्बकीय क्षेत्र कहा जाता है, होता है। ऐसे संचारों से प्राप्त परिणाम काफ़ी सीमित होते हैं, अधिकतर विश्वस्त नहीं होते, और माध्यम बने व्यक्ति के लिए अत्यंत हानिकारक होते हैं, जिससे कई बार बुद्धि की चेतना शक्ति का भयंकर ह्रास तक होता है। इसी लिए आध्यात्मिक विद्या के महापुरुष आत्मिकवाद के अभ्यास की निंदा करते हैं। सचखंड अर्थात् परमात्मा के निजी निवास तक उनका संपर्क सीधा होता है और वे अपनी इच्छा और चाह से बिना किसी बाधा या माध्यम के आते-जाते हैं। उन का तरीक़ा सामान्य, प्राकृतिक सीधा एवं रचनात्मक होता है, जबकि दूसरी ओर, प्रेतात्मावादियों का तरीक़ा अप्रत्यक्ष तथा किसी माध्यम से होता है, जोकि स्वयं के लिए और माध्यम के लिए भी ख़तरों और जोखिमों से भरा होता है। प्रेतात्मवाद, मृत्यु के पश्चात् आत्माओं के जीवित रहने के ज्ञान के अतिरिक्त, हमारे अनुभव को कुछ ख़ास आगे नहीं बढ़ा पाता और आध्यात्म-विज्ञान के रास्ते में कोई ठोस योगदान नहीं कर पाता।

सम्मोहनवाद (Hypnosis) तथा वशिकरण-विद्या (Mesmerism)

उपरोक्त टिप्पणियाँ सम्मोहन-वाद और वशिकरण पर भी पूर्णतया लागू होती हैं। दोनों प्रणालियों में एक दृढ़तर इच्छा-शक्ति का व्यक्ति, किसी दूसरे कम मानसिक व इच्छाशक्ति के व्यक्ति पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करता है, जिसके लिए वह उस पर दृष्टि केन्द्रित करके हाथ के इशारों व संकेतों के द्वारा प्रभाव डालने का प्रयास करता है। कुछ चिकित्सक कुछेक बीमारियों में, जैसे कि वातोन्माद (hysteria) आदि में, जिनका इलाज उनके वश में नहीं होता, इन तरीक़ों का उपयोग करते हैं और अस्थाई रूप से इस क्रिया से उपचार व दर्द से निवारण हो जाता है।

अध्यात्मवाद, इसके विपरीत, आत्मा का विज्ञान है और परिणामस्वरूप, इसका आत्मा के सभी पक्षों से सम्बंध होता है, जैसे मानव शरीर में आत्मा का निवास-स्थल कहाँ है, शरीर तथा मन से इसका सम्बंध क्या है, इन्द्रियों से व उनके माध्यम से यह कैसे क्रिया-प्रतिक्रिया करती है, इसकी वास्तविक प्रकृति क्या है, और इसे इसके सभी सीमित करने वाले विशेषणों से कैसे पृथक् किया जा सकता है, इत्यादि। यह आत्मिक यात्रा का, उसके तमाम आध्यात्मिक मंडलों और उप-मंडलों की प्रचुरता के साथ, आत्मिक शक्तियों और संभावनाओं तथा उनकी मूलभूत उपयोगिता का वर्णन करती है। अध्यात्म यह बताता है कि 'पवित्र-शब्द' क्या है और उसके साथ सम्पर्क कैसे स्थापित किया जा सकता है। यह हमें बताता है कि अंतिम लक्ष्य आत्म-अनुभव और परमात्म-अनुभव अर्थात् आत्मा का परमात्मा में विलय, और किस प्रकार यह 'सुरत-शब्द योग' अर्थात् 'अनाहत-नाद' के, जोकि पिछले पृष्ठों में वर्णित किया गया है, मार्ग के साधन द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती है।

अष्टम अध्याय

उपसंहार

संसार *सभी मुख्य धर्मों तथा उनके कुछ आधुनिक परिवर्तित आंदोलन के संक्षेप में किए गए पिछले सर्वेक्षण से यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो चुका है कि ये सभी कुछेक सर्वनिष्ठ धारणाओं तथा मान्यताओं की ओर संकेत करते हैं कि,*

क. *स्थूल जगत एक अधिक विशालतर सम्पूर्णत्व के एक छोटे से भाग से अधिक कुछ नहीं है।*

ख. *उसी प्रकार, हमारा दैनिक मानव-अस्तित्व एक विशाल और जटिल जीवन प्रक्रिया का मात्र एक छोटा सा अंश है।*

ग. *परिवर्तिनशील, भौतिक तथा मानवीय सृष्टि के पीछे एक परिपूर्ण सत्य अथवा सम्पूर्ण अस्तित्व निहित है, जोकि परिवर्तन अथवा नष्ट होने के परे है, जो स्वयं में परिपूर्ण है, जो कुछ भी विद्यमान है, उसके लिए वही उत्तरदायी है, और फिर भी, वह अपनी ही समस्त सृष्टि रचना के ऊपर है।*

घ. *मूलभूत सत्य की वह अवस्था, जोकि परिपूर्ण अस्तित्व की अवस्था है शब्द अथवा ज्योति व सामंजस्य की दिव्य-धारा के माध्यम से, जोकि निराकार से साकार होने की प्राथमिक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधत्व करती है, जिसके नीचे की ओर प्रवाहित होने से समस्त खंड व मंडल अस्तित्व में आए, (सक्षम मार्गदर्शन में) मनुष्य पहुँच में है।*

यदि सभी धार्मिक अनुभव एक ही दिशा का उदबोधन करते हैं, तो फिर यह प्रश्न उठता है कि धर्म के क्षेत्र के क्षेत्र में इतना संघर्ष व विवाद क्यों है? ऐसा क्यों हैं कि प्रत्येक धर्म के अनुयायी केवल अपने धर्म को

ही सबसे सच्चा धर्म मानते हैं और अन्य सभी धर्मों को झूठा? आध्यात्मिक क्षेत्र में रूढ़िवादी विश्वास क्यों है? इस प्रकार, पवित्र-आक्रमण (Holy Crusades), सेंट बार्थोलोम्यू की हत्या, स्पेन के जनसंहार अथवा भारतवर्ष में सन् 1947 के साम्प्रदायिक दंगे क्यों हुए? यह प्रश्न उचित ही है और जो कारण इन प्रश्नों के उत्तर में सामने आते हैं, अनेक तथा जटिल हैं।

पहली बात जोकि धर्म के तुलनात्मक अध्ययन में सामने आती है, वह यह है कि इनका अस्तित्व विभिन्न स्तरों पर है। प्रत्येक मुख्य धर्म के केन्द्र में किसी न किसी अनुभवी महापुरुष अथवा महापुरुषों की परम्परा के व्यावहारिक और आध्यात्मिक अनुभव होता है। इस केन्द्र के इर्द-गिर्द सामाजिक नियमों, रीति-रिवाज़ों और अनुष्ठानों का समूह जुड़ जाता है। साररूप में विभिन्न युगों और देशों में प्रकट हुए संतों-महापुरुषों के आध्यात्मिक अनुभव समान हो सकते हैं, परन्तु उनके सामाजिक संदर्भ, जिनमें कि उन्होंने उसका अनुभव किया और लोगों तक पहुँचाया, अनिवार्य रूप से भिन्न ही होंगे। पश्चिमी देशों का निवासी आदर प्रकट करने के लिए अपना सिर खुला रखता है, तो पूर्ववासी अपना सिर ढाँपता है। हिन्दू, अनेक नदियों वाली भूमि से, जहाँ पानी बहुतायत में मिल जाता है, संबद्ध होने के कारण अपनी प्रार्थना से पहले स्नान करते हैं, जबकि उसके मुसलमान भाई, जोकि अरब के मरुस्थल से आए हैं, जहाँ पानी की कमी है, केवल रेत रगड़ कर सूखा स्नान करके ही संतुष्ट हो जाते है। यूरोपीय ठंडे देशों के निवासी होने के नाते, इनकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। रीति-रिवाज़ों के ऐसे अन्तर अन्य क्षेत्रों में भी देखे जा सकते हैं। मुसलमानों में अनेक विवाह करना न्यायसंगत माना जाता है, तो ईसाई-कैथोलिकों (Catholics) में वह पाप माना जाता है। मूर्तिपूजा हिन्दूओं में बहुधा प्रचलित है, परन्तु ईसाई-प्यूरिटन्स (Puritans) में वह घृणित मानी जाती है। सच्चाई यह है कि सभी धार्मिक नेताओं ने उच्च स्तर के नैतिक मापदंडों की आवश्यकता पर बल दिया है, परन्तु उन्होंने नैतिक सिद्धांतों को ही चरम नहीं मान लिया। उन महापुरुषों ने अपने-अपने समय में लोगों की सामाजिक अवस्थाओं को ध्यान में रख कर, उन्हें सर्वोच्च सम्भव स्तर पर ले जाने का प्रयत्न किया और उन्होंने बाहारी रस्मों-रिवाज़ों तक ही सीमित रहने की अपेक्षा, हृदय की आंतरिक

पवित्रता तथा अने मानव समाज एवं अन्य सहप्राणियों के प्रति सद्भाव पर अधिक ज़ोर दिया। ईसा मसीह के समक्ष रहे श्रोतागण उनके इस कथन को कि, "मैं कानून को तोड़ने" नहीं आया, अपितु उसे "पूर्ण करने आया हूँ" की सच्चाई को समझने में सम्भवतः असफल रहे, और यद्यपि हज़रत मूसा (Moses) ने "जैसे को तैसा" ('An eye for eye an and a tooth for a tooth') बर्ताव का आदेश दिया, तो ईसा मसीह ने अपने शिष्यों को सिखाया कि वे अपने शत्रुओं से भी प्यार करें और यदि कोई बायें गाल पर थप्पड़ मारे, तो दायाँ गाल भी उसके आगे कर दें। हज़रत मूसा ने अपने समय की अवस्था के अनुसार बात की और ईसा ने अपने समय अनुसार, और इसीलिए ईसाई धर्म की नैतिकताएँ यहूदी धर्म की नैतिकताओं से पृथक् हैं, यद्यपि वह उसी पुरातन धर्म का ही एक विस्तारित रूप है।

धर्म के एक सामाजिक संस्था के रूप में विकसित होने की प्रक्रिया में जिन कारकों ने भूमिका अदा की, उनके परिणामस्वरूप हम यह देखते हैं कि प्रत्येक धर्म अपने लिए एक भिन्न प्रकार के रीति-रिवाज़ों, उसूलों, और कर्मकांडों की पद्धति उत्पन्न कर लेता है। प्रत्येक धर्म के प्रतिरूप पृथक् होते हैं, इसीलिए प्रत्येक धर्म के मानने वाले अपने आप को अन्य धर्मवालों से अलग ही पाते हैं। यह भिन्नता केवल पहनावे और तौर-तरीक़ों में ही नहीं होती, परन्तु उनके सामाजिक विचारों और बर्ताव में भी होती है। फिर भी, बुद्ध और ईसा मसीह जैसे महापुरुषों की जीवनियाँ यही प्रकट करती हैं कि जबकि उनमें से प्रत्येक ने अपने समाज के नियमों को माना और आगे बढ़ाया, फिर भी उन्होंने यह कभी नहीं भुलाया कि सभी मानव आपस में भाई-भाई हैं और उन्होंने समाजों के लोगों को भी वही आदर व सम्मान दिया, जो अपने समाज के लोगों को दिया। अलग-अलग बाहरी रूपों की जीवन की विशिष्टता के पीछे उन्होंने उसी एक अस्तित्व की एकता के स्पंदन को देखा और उसी स्तर से उन्होंने सारी मानवता का सम्मान किया।

जो कुछ धर्मों के महान संस्थापकों के लिए सम्भव था, वही उनके लिए भी, जो अपने आप को उनके अनुयायी मानते हैं, सम्भव होना चाहिए। परन्तु, जब वास्तविक स्थिति देखते हैं, तो पाते हैं कि विभिन्न धर्म के लोगों के बीच परस्पर-संवाद सहयोग और समझदारी शायद ही

कभी सम्भव हो सकी। एक आध्यात्मिक महापुरुष, श्री रामकृष्ण ने इस सत्य की जाँच करने के लिए कि सभी धर्म एक ही आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, बारी-बारी से हिन्दू ईसाई एवं इस्लाम धर्मों के बाहरी एवं आन्तरिक अनुशासनों का अभ्यास किया, और प्रत्येक में उन्होंने पाया कि प्राप्त किया हुआ लक्ष्य एक समान था। भले ही वे सभी धर्मों की आंतरिक एकता का व्यावहारिक प्रदर्शन कर सके हों, परन्तु हम में से बाक़ी लोग तो इस विषय को जानने में असफल रह जाते हैं। तथ्य यह है कि विश्व का प्रत्येक महान धर्म अपने संस्थापक के गुज़र जाने के पश्चात् एक संस्था के रूप में परिवर्तित हो गया और उसका प्रबन्ध एक पुरोहित-समूह के हाथ में आ गया। भारत में पंडित, इस्लाम में मुल्ला और मौलवी, यहूदियों में फ़ारसी और रब्बी, तथा ईसाई-धर्म में मठवासी (monks) और बिशप (bishops) इस कार्य के प्रबन्धक बने। इस विकास ने उन महापुरुषों की शिक्षाओं को आगे बहुत सारे लोगों में प्रसारित होने को सम्भव बनाया, जिन तक वे स्वयं अपने काल में नहीं पहुँच सकते थे। बुद्ध ने व्यक्तिगत रूप से अनेक व्यक्तियों से मुलाक़ात की और अपने मत से प्रभावित किया, परन्तु उन लोगों की संख्या उन की तुलना में नगण्य थी, जिन्होंने बुद्ध की मृत्यु के दौ सौ वर्ष उपरान्त, लाखों की संख्या में धर्म के सिद्धांतों को सुना, जबकि अशोक ने अनेक संघों का निर्माण करके बौद्ध भिक्षुओं को देश-विदेशों में प्रचार के लिए भेजा। इसके अतिरिक्त, इस प्रबन्ध से बुद्ध का संदेश आने वाले समयों में प्रसारित होता गया। महात्मा बुद्ध आए और चले गए, ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया, परन्तु संघ और चर्च अभी तक चल रहे हैं और उनकी शिक्षाओं को व्यापक तरीक़े से जीवित रखा हुआ है, जो यदि से संस्थाएँ विकासित नहीं हुई होतीं, तो सम्भव नहीं हो पाता।

परन्तु, जब कि महान आध्यात्मिक महापुरुषों की शिक्षाओं के संस्थागत रूप धारण करने से उनका प्रचार-प्रसार सम्भव हो सका, तो इस से उनके वास्तविक स्वरूप में परिवर्तन भी हो गया। ईसा मसीह अथवा बुद्ध का संदेश, जैसा सर्वप्रथम स्वयं उनके द्वारा दिया गया था, वह अपने आप में एक था, परन्तु चर्च तथा संघ के हाथों में इसका प्रारूप बदल गया। उन महान धार्मिक नेताओं को प्राथमिक आंतरिक अनुभव प्राप्त था और वे उसी से निर्देशित हुए तथा उनकी शिक्षाओं के सार रूप में वह वास्तविकता निहित

थी। इन बातों को उन्होंने सार्वभौमिक रूप से देखा, जो प्रत्येक मानव ने भीतर अंतर्निहित हैं और इसी सत्य की ओर उन्होंने अपने शिष्यों का ध्यान निर्देशित किया और आत्मिक विकास के लिए नैतिक विकास को एक आवश्यक तत्व के रूप में अपनाया। उन महापुरुषों के गुज़र जाने के बाद, जब उनका कार्य तेज़ी से विस्तृत होती हुई संस्थाओं ने ले लिया, जोकि समय के साथ अधिक जटिल रूप धारण करती गईं, तो यह आशा नहीं की जा सकती थी कि उनके सभी सदस्यों का आत्मिक स्तर उसी ऊँचाई का हो अथवा उनका आन्तरिक आत्म-अनुभव भी उसी स्तर का हो, जैसा कि उन महापुरुषों का था या फिर आंतरिक रूहानी मंडलों का कोई अनुभव ही। अतः इस में आश्चर्य की बात नहीं कि चर्च इत्यादि के विकास होने से आध्यात्मिक विकास पर ज़ोर देने की अपेक्षा, नैतिकता, रीति-रिवाज़ों और नियमों-सिद्धांतों पर अधिक बल दिया जाने लगा, संक्षेप में सार्वभौमिक के बजाय विशेष पर। कोई विरली आत्मा ही अपने अन्दर के अंधकार को चीर कर आगे बढ़ सकती है, और ऐसे एक व्यक्ति की तुलना में लाखों या करोड़ों की संख्या में अन्य लोग होंगे, जोकि नैतिकता की समस्याओं पर चर्चा कर सकते हैं, बाहरी रस्मों-रिवाज़ों का अभ्यास कर सकते हैं और विभिन्न विषयों पर अपनी मज़बूत राय बनाए रख सकते हैं, जोकि उनके निजी अनुभवों के आधार पर नहीं होते, परन्तु जीवन के बाज़ार में से उठाए गए होते हैं; और इसीलिए, जबकि हमें स्वयं ईसा की शिक्षाओं में रीति-रिवाज़ों, बाहरी नियमों-सिद्धांतों आदि की कोई कठोर रूप-रेखा नहीं मिलती, क्योंकि उनमें सभी कुछ सरल, लचीला और आत्मिक संदेश की सेवा में निर्देशित है, ऐसी दृढ़ रूप-रेखा ईसाई चर्च के विकास और संवर्धन के साथ ही उभर कर सामने आती है। जब यह भेद उभरे, तो ईसा तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों ने बीच में नए अवरोध प्रकट हो गए, जोकि पहले कभी भी अस्तित्व में नहीं थे।

और जैसे मा'नो कि यह भी काफ़ी नहीं था, पादरी परम्परा के विकास ने एक दूसरी ही दशा में कार्य किया। जैसे कि अपने विकास के काल में चर्च को अनेक कड़े संघर्षों से गुज़रना पड़ा, क्योंकि प्रत्येक नई विचार-धारा को प्रायः कठिन विरोध का सामना करना ही पड़ता है। इसमें ख़तरों और हानियों की सूलियाँ ही मिल सकती थी, न कि विकास और समृद्धि के

पुष्पहार। जिन्होंने इसमें प्रवेश लिया, अपने विश्वास के कारण ही लिया, न कि शक्ति के लालच से। परन्तु, जब एक बार चर्च को मान्यता मिल गई, तो उसने लोगों पर भारी प्रभाव डालना शुरू कर दिया। उन्होंने उसे भेंट और उपाधियाँ देना प्रारम्भ कर दिया और इसे अंतिम मध्यस्थ बना दिया गया– न केवल आत्मिक मामलों में, बल्कि सांसारिक मामलों में भी। और इस प्रकार से एक प्रक्रिया आरम्भ हुई, जिसमें पादरी वर्ग ने आंतरिक जीवन की अपेक्षा बाहरी जीवन बनाए, और आत्म-त्याग के स्थान पर सांसारिक सत्ता को अपना लिया। अपनी स्थिति को मज़बूत बनाए करने के लिए, चर्च ने नियमों और परम्पराओं के विकास को बढ़ावा दिया, जिसने इसके शक्ति के एकाधिकार को और मज़बूत किया। अपने आपको सुदृढ़ करने के लिए इसने अपने पवित्र वेदी के इर्द-गिर्द, जिसमें यह सेवारत था, एक पवित्र प्रभामंडल बना लिया और अन्य पूजास्थलों की, जहाँ इसका हाथ नहीं था, निंदा की। यदि यहोवाह (Jehovah) या फिर किसी और नाम के देवता के स्वयंभू सेवकों को अपना स्थान और अधिकार बनाए रखना व बढ़ाना था, तो यह आवश्यक था कि फ़िलिस्तीनी (Philistines) तथा अन्य काफ़िरों के सभी देवताओं की निंदा की जाती।

मानवीय कार्य-कलापों के सभी क्षेत्रों में ये कारक, जिन पर अभी हमने विचार किया है, कार्य करते हैं। इतिहासकार प्रत्येक नए आंदोलन के, चाहे वह धार्मिक हो अथवा धर्म-निरपेक्ष, भाग्य को भली-भांति जानते हैं। यह एक भविष्यदृष्टा मनुष्य के साथ उदय होता है, उन लोगों के हाथों में वह तेज़ गति से आगे बढ़ता है, जिन्हें उसके उदाहरण ने सीधे प्रभावित किया है, और उसके बाद धीरे-धीरे जीर्ण और क्षीण होने लगता है। एक जीवन्त दृष्टि से नीचे गिर कर केवल एक यांत्रिक सिद्धांत बन कर रह जाना केवल धर्म में ही नहीं होता, परन्तु धर्म के संदर्भ में इसके कुछ ऐसे पहलू हैं, जोकि अन्य क्षेत्रों में नहीं होते हैं।

यह अद्वितीय समस्याएँ आत्मिक अनुभवों से उठती हैं, जो प्रत्येक महान धर्म के मूल में हैं। आत्मिक अनुभव, जैसा कि हमने देखा है, उन आत्मिक मंडलों तक जाता है, जिन तक साधारण मानव ही पहुँच नहीं है। किसी भी युग में उस अनुभव की निपुणता को कुछ गिने-चुने लोग ही या फिर उससे भी कम लोग पाते हैं। यह अनुभव अपने चरित्र में अद्वितीय है,

क्योंकि इस में एक प्रकार की समृद्धि, विस्तृतता, गहनता और सौंदर्य है, जिसका संसारिक जीवन में कोई मुक़ाबला नहीं है। परन्तु, हम इस पृथ्वी मंडल पर उसके अनुभव को अपने सांसरिक अनुभवों की सीमा-परिधि के अंतर्गत ही समझ सकते हैं। एक आध्यात्मिक महापुरुष यदि अपने अद्वितीय अनुभवों के बारे में हमें कुछ बताना चाहे, जोकि मौन में अथवा वेदांती की 'नेति-नेति' में अथवा सेंट जॉन ऑफ़ दि क्रॉस (St. John of the Cross) के नकारात्मक बयान में ही समाप्त नहीं होते, तो उसके पास यही विकल्प है कि वह उपमाओं तथा रूपकों का सहारा ले।

मौलाना रूमी की मसनवी में हमें बतलाया है :

बीश अज इन गुफ़्तन मरा दर ख़ूए नीस्त,
बहर रा गुंजायश अन्दर जूई नीस्त।

(यदि मैं तुम्हें कुछ और अधिक बतलाऊँ, तो उचित नहीं होगा, क्योंकि नदियों के किनारे, समुद्र की अनन्तता को संभालने में समर्थ नहीं हैं।)

ईसा मसीह ने इस विषय पर अपने निकटतम शिष्यों को संबोधित करते हुए, जिन्हें वह प्रथम आतंरिक आत्मिक अनुभव प्रदान कर सकते थे, अत्यंत स्पष्ट वर्णन किया है :

तुम्हें परमात्मा की बादशाहत के रहस्य बतलाये गये हैं, परन्तु उन लोगों के लिए जो उपदेश है, वह दृष्टांत के रूप में दिया गया है।

– पवित्र बाइबिल (मरकुस 2:2)

जबकि प्रत्यक्ष कथन किसी वस्तु की विवेचनात्मक विशेषताओं के कारण सीमित रह जाते हैं, प्रतीकात्मक बयान ऐसे प्रतिबंधों से बंधे नहीं होते। कवियों ने अपने प्रेम को प्रकट करने के लिए गुलाब, सितारे, स्वरलहरी, ज्वाला, चंद्रमा आदि के माध्यम का सहारा लिया है। आध्यात्मिक विभूतियों ने भी प्रभु के लिए अपने प्रेम को वर्णित करने के लिए इसी प्रकार की अनुज्ञा का प्रयोग किया है। परन्तु, जबकि कवि के श्रोतागण, मानवीय प्रेम का वर्णन सुनते हुए, स्त्री से परिचित होने से यह जानते हैं कि वह अंलकारों का प्रयोग कर रहा है, किसी आध्यात्मिक महापुरुष के श्रोताओं के पास ऐसी कोई तुलना नहीं होती और वे अक़्सर यह भूल जाते हैं कि वह जो कुछ बयान कर रहे हैं, वह केवल प्रतीकात्मक ही है। इसी कारण

आत्मिक-दृष्टा महात्मा की प्रतीकात्मक वाणी को प्राय: अक्षरश: समझ लिया जाता है, और इसके विपरीत जब वे अक्षरश: होते हैं तो उन्हें उपमा के रूप में समझ लिया जाता है। अत: जब ईसा या मुहम्मद ने यह कहा कि वे प्रभु के पुत्र अथवा संदेशवाहक हैं (जैसा सभी महापुरुष, जिन्होंने प्रभु में अपनी इच्छा को विलीन कर दिया है, कहते रहे है), तो उन्हें अक्षरश: यह मान लिया गया कि केवल वह ही प्रभु के एकमात्र पुत्र हैं। अथवा पुन:, जब कि ईसा अपने सीमित व्यक्तिगत क्षमता में नहीं, बल्कि शाश्वत दैव्य-सिद्धांत की अवस्था में स्थित होकर, संबोधित करते हैं, "मैं तुम्हें कभी नहीं छोड़ूंगा, न ही त्यागूंगा– संसार के अंत होने तक भी नहीं," तो उनकी बात को अक्षरश: मान लिया गया। इस प्रकार, ईसा के शरीर त्यागने के बाद, किसी जीवित महापुरुष से आत्मिक मार्गदर्शन पाने की बात को अविश्वास का प्रतीक मान लिया गया और इसलिए उस बात को अपधर्म मान लिया गया। पर जब ईसा ने अक्षरश: 'एकल आँख' **(Single Eye)** की बात की या प्रभु को 'ज्योति' कहा, तो उसे आलंकारिक भाषा जाना गया, जिसका अर्थ, विवेक की सम्पूर्णता और तर्क की ज्योति लगाया गया।

इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार के प्रत्येक कथन के इस प्रकार की व्याख्या से, या कि ग़लत व्याख्या से, ऐसे अर्थ उभरे, जो उनके कहने वाले महापुरुषों के मन में कभी नहीं था और उन महापुरुषों के नाम पर, ऐसे नियम-सिद्धांत व रीति-रिवाज़ बनाए, जिनका सार्वभौमिक आंतरिक अनुभव से, जिनसे उन्हें प्रेरणा मिली, कोई सम्बंध ही नहीं था। इस प्रकार से विभिन्न धर्मों के बीच में सिद्धांत के भेदभाव उभरे, जिनके बारे में उनके प्रणेताओं के मन में कोई विचार ही नहीं था। इसके अतिरिक्त, आंतरिक मंडल इतने विस्तृत और विभिन्न हैं कि कोई एक महापुरुष कभी भी उनके सभी परिदृष्यों के बारे में इंगित नहीं कर सकता है। वह उन अन्य महापुरुषों के, उसके जिन भागों का वर्णन किया हो, बिल्कुल समान नहीं हो सकता। इसका परिणाम यह होता है कि पाठक को जिसकी आतंरिक मंडलों तक सीधी पहुँच नहीं है, एक या दूसरे महापुरुषों की रचनाओं में अन्तर दिखाई दे सकता है, जो वास्तव में नहीं होता है।

आगे, सभी महात्मा सर्वोच्च आध्यात्मिक लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाते। आतंरिक अंधकार के पर्दे को पूरी तरह से पार करने में इनमें से से कुछ

ही सफल होते हैं, और इनमें से भी अधिकतर प्रथम आंतरिक आत्म-मंडल के पार नहीं जा पाते। उन महात्माओं में से, जोकि उससे आगे जाने में सफल हो पाते हैं, अधिकतर दूसरे मंडल को पार नहीं कर पाते, इत्यादि। अब, प्रत्येक मंडल की अपनी विशेषताएँ और चारित्रताएँ हैं, और जब कि उच्चतर मंडल, निम्नतर मंडलों को अपने में समाहित किए हुए होते हैं, निम्नतर मंडलों के निवासी, उच्चतर मंडलों के अस्तित्व के बारे में बिल्कुल ही अनभिज्ञ रहते हैं। नीचे के मंडलों की तुलना में उनसे उच्चतर मंडल अपने आप में सम्पूर्ण लगता है और प्रत्येक महात्मा ने, जिसने उनका वर्णन किया है, अपने दिव्य अनुभवों का इस प्रकार से वर्णन किया है, जैसे कि वह आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण एवं अन्तिम पड़ाव हो। इसके अवश्यम्भावी परिणामस्वरूप, हमें परिपूर्ण प्रभु-सत्ता के अनेक प्रकार के वर्णन मिलते हैं, जिनके अलंकारिक भेद को अनदेखा करके भी, ये विवरण आपस में मेल नहीं खाते। ईसा, प्रभु को पिता के नाम संबोधित करते हैं, श्री रामकृष्ण उसे माता-तुल्य मानते हैं। साँख्य महापुरुष प्रभु, प्रकृति तथा आत्मा को एक दूसरे से सर्वदा पृथक् मानते हैं, रामानुज इन्हें सम्बंधित परन्तु एकत्व में कभी लीन नहीं होने का विवरण देते हैं, जबकि शंकराचार्य उनको सार रूप से एक ही देखते हैं और उनके विभाजन को वास्तविक नहीं, बल्कि केवल 'माया' कहते हैं। इन सभी वर्णनों से साधरण पाठक के सामने काफ़ी संभ्रम ही अवस्था उत्पन्न होती है। परन्तु, यदि उसे कोई ऐसा मिल जाए, जो उच्चतम मंडल तक पहुँच चुका हो और प्रत्येक आन्तरिक मंडल के अनुभव से भिज्ञ हो, तो सभी भेदभाव समाप्त हो जाएंगे, क्योंकि वह यह प्रदर्शित कर सकता है कि यद्यपि छः 'अंधे आदमियों' ने हाथी के विभिन्न अंगों को छू कर, उसके बारे में विभिन्न व अंतर्विरोधी वर्णन किए, फिर भी जिसने उस हाथी को सम्पूर्ण रूप से देखा हो, वह उन सभी को जोड़ कर हाथी के रूप का सामंजस्यरूपी ज्ञान करा सकता है।

इस सन्दर्भ में, 'सुरत-शब्द योग' की शिक्षाएँ एक अलग ही महत्ता धारण कर लेती हैं। हमने पहले ही कुछ विस्तार में देखा है कि किस प्रकार यह सबसे जल्दी, सबसे व्यावहारिक और सार्वाधिक वैज्ञानिक साधन का प्रतिनिधित्व करता है, जोकि मनुष्य अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयुक्त कर सकता है। अब हम आगे यह भी कह सकते हैं कि उसे सर्वोच्च

आत्मिक मंडल पर ले जाकर, जहाँ पर निराकार साकार रूप धारण करता है, यह उसे एक ऐसी सर्वोत्तम अवस्था उपलब्ध कराता है, जहाँ से वह आध्यात्मिकता के विस्तृत क्षेत्र का दर्शन कर सकता है। आम व्यक्ति जिसे पाकर संभ्रम में पड़ सकता है और आश्चर्यचकित हो सकता है, इस मार्ग के अनुभवी उसे पाकर शान्त रहता है। उसके प्रतिपादन से भेदभाव लुप्त हो जाते हैं, और जो बात पहले भ्रमित और हतबुद्धि कर देती थी, उसका स्पष्टिकरण हो जाने के पश्चात् वह पूर्ण रूप से सुलझ जाती है, जिससे सभी शंकाएँ मिट जाती हैं। आजकल जितने भी आध्यात्मिक और अर्ध-आध्यात्मिक आंदोलन हमारे सामने हैं, वह उन सभी को समझता है। वह अपनी इच्छा से उन सभी आन्तरिक अनुभवों में प्रवेश कर सकता है, जो उनके द्वारा उपलब्ध कराया जाता है, और उनके तुलनात्मक गुणों को परखने में वह पूरी तरह से पारंगत होता है। वह किसी की निन्दा नहीं करता और न ही किसी पर प्रहार करता है। वह किसी के घृणा व विरोध से प्रभावित नहीं होता। सर्वोच्च सत्ता का साक्षात्कार पाने के पश्चात् उसका उद्देश्य केवल यही होता है कि वह अपने साथी मनुष्यों को भी सबसे सुगम और शीघ्रतम मार्ग से पहुँचाए। वह जानता है कि आंतरिक जीवन को बाहरी जीवन के साथ अस्तव्यस्त नहीं करना है और वह अपने संदेश को किसी पंथ के रूप में नहीं, अपितु एक विज्ञान के रूप में करता है। वह कहता है, "अन्दर जाने का यत्न करो और अपने आप देखो।"

जो विज्ञान वह सिखाता है, वह कोई नया नहीं है। वह सबसे पुरातन विज्ञान है। परन्तु, जबकि पिछले समयों में वह बहुत सी उन बातों से, जिनका इस से कोई आवश्यक महत्वपूर्ण सम्बंध नहीं था, अपना नाता जोड़ लिया, वह चाहता है कि इसे उसकी पवित्र और पुरातन भव्यता की अवस्था में सुरक्षित रखा जाए। वह सभी महान धर्मग्रन्थों में निहित आध्यात्मिक सच्चाइयों को उनके तर्कपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचाता है और ज़ोर देकर समझाता है कि यदि परमात्मा अपनी प्राथमिक अवस्था में 'ज्योति' तथा 'संगीत' है, तो हमें उस तक वापस पहुँचने के लिए तथा उसके साथ एकमेक होने के लिए कोई अन्य बाहरी साधन न अपनाकर अन्तर्मुख होना चाहिए। जहाँ कहीं भी हलचल होती है, वहाँ वह शांति लाता है, जहाँ कहीं निराशा हो, वह वहाँ आशा का संचार करता है, और हम में से प्रत्येक

को देने के लिए, चाहे हम जिस किसी भी अवस्था में हों, उसके पास कुछ सांत्वना, कुछ प्रकाश है।

संक्षिप्त जीवन चरित्र :
परम संत कृपाल सिंह जी महाराज

परम संत कृपाल सिंह जी महाराज 6 फ़रवरी, 1894 ई. में, ज़िला रावल. पिंडी के एक छोटे से गाँव, सय्यद कसराँ में एक संभ्रात सिक्ख घराने में पैदा हुए। रखने वालों ने नाम भी चुन कर रखा— 'कृपाल', जिसने दयामेहर के ख़ज़ाने दोनों हाथों से लुटाये और रूहानियत (आत्मज्ञान) को दौलत से दुनिया को मालामाल कर दिया।

अध्ययनशील विद्यार्थी

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' बचपन ही से महापुरुषों के लक्षण आप में दिखाई देने लगे थे। घर से खाने–पीने की जो चीज़ें इन्हें मिलतीं, वे सब अपने साथी बालकों को बाँट देते और आप किसी एकांत स्थान में जाकर ध्यान में लीन हो जाते। इनका बचपन का ज़माना अनगिनत चमत्कारों से भरा पड़ा है, जिसके कारण 6 वर्ष की आयु से ही लोग इन्हें संत मानने लगे थे। इनका विद्यार्थी जीवन ज्ञान प्राप्ति और अध्ययनशीलता की अथक लगन का नमूना था। स्कूल की पढ़ाई के ज़माने में कॉलिज की पूरी लायब्रेरी की किताबें आपने पढ़ डाली थीं।

ज्ञान प्राप्ति की अनन्य लगन

आप मिशन स्कूल में पढ़ते थे, जहाँ ईसाई पादरी अक्सर लैक्चर देने आया करते थे। एक बार एक पादरी साहब स्कूल में आए और एक एक कक्षा में जाकर विद्यार्थियों से उनकी इच्छाओं–आकांक्षाओं और जीवन के आदर्श के बारे में कई सवाल पूछे। जब इनकी (कृपाल सिंह जी की) कक्षा में पहुँचे तो पादरी साहब ने पूछा, "बच्चों! तुम किस लिए पढ़ रहे हो? पढ़–लिख कर तुम क्या बनना चाहते हो?" अपनी–अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न उत्तर लड़कों ने दिए। किसी ने कहा, मैं पढ़ाई ख़त्म करके डॉक्टर बनूँगा, किसी ने कहा, मैं इंजीनियर बनूँगा, किसी ने कुछ, किसी ने कुछ कहा। रस्मी से जवाब थे, जिनके पीछे एक ही उद्देश्य था कि पढ़–लिख कर रोज़ी पैदा की जाए। जब कृपाल सिंह जी की बारी आई, तो

उन्होंने कहा, "I read for the sake of knowledge," अर्थात् मैं ज्ञान प्राप्ति के लिए पढ़ रहा हूँ। पादरी साहब ये जवाब सुनकर बहुत खुश हुए और भविष्य–वाणी की कि ये लड़का एक दिन दुनिया में नाम पैदा करेगा।

यह जवाब ज्ञान प्राप्ति के लिए अनन्य लगन का परिचायक था, जो इन्हें उस परम ज्ञान की मंज़िल तक ले गयी, जिसको पाकर सब कुछ जाना हुआ और पाया हुआ हो जाता है।

जन-कल्याण की प्रेरणा

संत कृपाल सिंह जी ने पूर्व और पश्चिम के परमार्थाभिलाषियों के पथ–प्रदर्शन के लिए अनेकों ग्रंथ लिखे हैं, लेकिन सबसे बड़ा ग्रंथ उनका अपना जीवन है, जिसके महत्त्वपूर्ण दृष्टांत अंधेरी रात में चमकते तारों के समान जीवन पथ के यात्री को रास्ता दिखाते हैं। 12 वर्ष की आयु में श्री रामानुज के जीवन वृत्तांत में उन्होंने पढ़ा कि जब वे गुरु से दीक्षा लेकर वापस घर लौटे, तो गाँव के लोगों को इकट्ठा करके गुप्त मंत्र, जो गुरु से मिला था, उन्हें बताने लगे। लोगों ने टोका कि यह तुम क्या कर रहे हो, गुरुमंत्र बताना महापाप है, नरकों में जाओगे। रामानुज ने कहा, "अकेला मैं ही नरकों में जाऊँगा ना! यह सारे लोग तो बच जाएँगे।" आप फ़रमाते हैं, "यह वृत्तांत पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ और मैंने सोचा कि यदि यह आत्मज्ञान की यह दात कभी मेरे हाथ आई, तो मैं भी उसे इसी तरह मुफ़्त लुटा दूँगा।"

जीवन का लक्ष्य

1911 ई० में आपने मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास की। उस वक़्त आपकी आयु 17 वर्ष की थी। अब यह सवाल सामने आया, जो पढ़ाई ख़त्म होने पर हरेक विद्यार्थी के सामने आता है, कि मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है? मुझे ज़िंदगी में क्या काम करना है? आप फ़रमाते हैं कि "पूरे सात दिन मैंने इस सोच में गुज़ार दिए और अंत में फ़ैसला किया कि मेरे लिए परमात्मा पहले है, दुनिया बाद में।" फिर सारा जीवन इस आदर्श– प्रभु–प्राप्ति में लगा दिया।

महान जीवन की तैयारी

महाराज कृपाल सिंह जी के बचपन और विद्यार्थी जीवन से यह तथ्य दिन के उजाले की तरह सामने आता है कि उन्हें शुरू ही से उस महान कार्य का, जो

आगे चलकर उन्हें करना था, पूर्ण आभास था। बचपन ही से उनका हर क़दम उस महान जीवन की तैयारी के लिए उठता रहा। उस जीवन के लिए असाधारण संस्कार एवं क्षमताएँ आप लेकर आए थे। चार वर्ष की आयु में ही वो ध्यानास्थित होकर अन्तर दिव्य मंडलों में विचरने लगे थे। आप फ़रमाते थे कि सुरत अर्थात् आत्मा के सिमट जाने से नींद का काम पूरा हो जाता है। आत्मा पिण्ड (स्थूल शरीर) को छोड़ ऊपर दिव्य मंडलों की सैर करके वापस आती है, तो शरीर recharge हो जाता है अर्थात् नया जीवन प्राप्त करता है। ये उच्च प्रवृत्तियाँ और संस्कार आप में जन्मजात थे और इनसे आप ने जीव–कल्याण के महान कार्य में बड़ा काम लिया।

प्रभु–प्राप्ति की ओर

उन्हीं दिनों एक घटना घटी, जिसने प्रभु की तलाश की चिंगारी को, जो इनके हृदय में सुलग रही थी, एक धधकती ज्वाला बना दिया। लाहौर में आप एक जवान औरत का हाल देखने गए, जो बीमार थी और जीवन के अंतिम स्वाँस ले रही थी। सहसा वह अपने रिश्तेदारों से कहने लगी, "मेरा कहा–सुना माफ़ करना, मैं जा रही हूँ," यह कहकर प्राण त्याग दिए। ये दृश्य देखकर आप सोचने लगे, कि वह क्या चीज़ थी जो इस औरत के शरीर से निकल गई है, जिससे यह मुर्दा पड़ी है और हममें वह चीज अभी मौजूद है? वह कौन–सी ताक़त है, जो हाड़–माँस के इस शरीर को चलाती है और जब इससे निकल जाती है, तो मिट्टी का ढ़ेर बाक़ी रह जाता है? शव के साथ आप श्मशान भूमि पहुँचे। वहाँ उस जवान औरत की चिता के पास ही एक बूढ़े आदमी की लाश पड़ी थी। यह दृश्य देखकर ख़्याल आया कि मौत जवानी और बुढ़ापे में कोई फ़र्क नहीं देखती। थोड़ी दूर आगे एक स्मारक पर लिखा था— "ओ जाने वाले, कभी हम भी तेरी तरह चलते फिरते थे, लेकिन आज मिट्टी का ढ़ेर होके पाँव तले पड़े हैं।" एक के बाद एक, यह तीन दृश्य देखकर दिल को चोट लगी। इसके बाद रातों की नींद उड़ गई। प्रभु प्रियतम के वियोग में यह अवस्था बनी कि रात को आँसुओं से सारा तकिया भीग जाता। इस तलाश ने कई रंग दिखाये। किताबें पढ़ीं, हरेक समाज के धर्मग्रंथ पढ़े। साधु महात्माओं से मिले— क्या–क्या नहीं किया? यह सवाल आख़िर हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के चरणों में जाकर हल हुआ।

जीवन की पवित्रता, आत्म–निरीक्षण और निरन्तर अभ्यास से आपको त्रिकालदर्शिता प्राप्त हो गई— पीछे क्या हुआ, आगे क्या होने वाला है, सभी बातें साफ़ दिखाई देने लगीं। आपने प्रार्थना की, "हे प्रभु! मैं तो तुझे पाना चाहता हूँ। ये दैवी शक्तियाँ, जो तूने दया करके मुझे प्रदान की हैं, इनका शुक्रिया! इन्हें अपने पास रख। तुझसे यही माँगता हूँ कि मेरा जीवन एक साधारण व्यक्ति की तरह गुज़रे। दूसरे, यह कि यदि मेरे हाथों किसी का भला हो, तो मुझे उसका कोई अहसास न हो।" ये दो प्रार्थनायें 'कृपाल' के विशाल, प्रभु–प्रेम और विश्व–प्रेम से ओत–प्रोत हृदय की अनुपम झाँकी प्रस्तुत करती हैं।

सत्गुरु दयाल से भेंट

धर्मग्रंथों के अध्ययन से आप इस निष्कर्ष पर तो पहुँच चुके थे कि परमार्थ में सफलता के लिए गुरु का मिलना ज़रूरी है, पर हर वक़्त मन में यह धड़का लगा रहता था कि किसी अधूरे से वास्ता न पड़ जाए, सारा जीवन बर्बाद न चला जाए। इनके हृदय की सच्ची पुकार प्रभु ने सुनी और वक़्त के संत–सत्गुरु, श्री हुज़ूर बाबा सावन सिंह जी महाराज का दिव्य स्वरूप इन्हें अन्तर में आने लगा। यह 1917 ई॰ की बात है, हुज़ूर बाबा सावन सिंह जी महाराज जी के चरणों में जाने से सात साल पहले की। बाबा सावन सिंह जी महाराज से मुलाक़ात भी एक विचित्र संयोग था। 1924 ई॰ की बात है, जब आप लाहौर में मिलिट्री अकाउन्ट्स के दफ़्तर में काम करते थे। नदी का तट देखने का शौक़ आपको ब्यास ले गया। हुज़ूर बाबा सावन सिंह महाराज के चरणों में पहुँचे, तो देखा कि ये तो वही महापुरुष हैं जिनका दिव्य स्वरूप साल साल से अन्तर में पथ–प्रदर्शन करता रहा था। पूछा, "हुज़ूर, श्री चरणों में लाने में इतनी देर क्यों की?" हुज़ूर महाराज मुस्करा दिये। कहने लगे, "यही वक़्त मुनासिब था।"

आदर्श शिष्य

गुरु की तलाश में कड़ी से कड़ी कसौटी आपने अपने सामने रखी। जब वह मिल गया, तो तन, मन, धन सब कुछ गुरु को अर्पण कर दिया। गुरु भक्ति की और ऐसी की कि गुरु में अभेद हो गये। इनके महान कल्याणकारी जीवन की मोटी–मोटी बातों को भी बयान करने की यहाँ गुंजाइश नहीं है। वह करन–कारण प्रभु–सत्ता, उसे 'नाम' कहो, 'शब्द' कहो, जो मानव तन में प्रकट होकर जीवों का कल्याण करती चली आई है, इनके अन्तर में प्रकट होकर पूर्व से पश्चिम

तक जीवों का प्रभु से जोड़ती रही। यह उसका प्रताप था कि भारत के सभी वर्गों जातियों व समाजों के अतिरिक्त यूरोप और अमरीका में सभी मतों के ईसाइयों, इसराइल के यहूदियों, भारत, पाकिस्तान और अरब देशों के मुसलमानों, अफ़्रीका और अमरीका के हबशियों, तिब्बत, मलाया व अन्य पूर्वी देशों के बौद्धों का प्रेम प्यार व सम्मान उनको प्राप्त था। इनके दीक्षितों में विश्व के लगभग सभी देशों, जातियों, विचारधाराओं तथा समाजों के लोग शामिल हैं।

महाराज कृपाल सिंह जी को पुरबले संस्कारों तथा गुरु कृपा के प्रताप से देह स्वरूप में गुरु (परम संत श्री हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज) से मिलाप होने से सात साल पहले ही गुरुमुख की अवस्था प्राप्त हो चुकी थी। लम्बी खोज के बाद जब देह स्वरूप में सत्गुरु दयाल के दर्शन हुए, तो बरबस इनके मुख से निकला, "हुजूर! अपने चरणों में लाने में इतनी देर क्यों की?" कोई पूछ–ताछ नहीं, कोई सवाल–जवाब नहीं, सात साल से अन्तर दिव्य मंडलों में जो महापुरुष मार्गदर्शन करते रहे, उनसे सवाल–जवाब की गुंजाइश ही कहाँ रह गयी थी? शिष्य के सवाल के पीछे लंबी खोज की, विरह वेदना की, लंबी कहानी थी। गुरु के उत्तर में उसकी (गुरु के मानव तन में काम करने वाली प्रभु–सत्ता की) मौज या इच्छा का इशारा था, स्पष्ट संकेत था इस बात का कि इस सारी क्रिया में इन्सानी कोशिशों का दख़ल नहीं, यह उस परम सत्ता का काम है जो गुरु के चोले में प्रकट होकर जीवों का उद्धार अर्थात् उन्हें तन–मन से ऊपर लाकर प्रभु से जोड़ने और मिलाने का काम करती है। गुरु शिष्य की कहानी उस पहली मुलाक़ात ही में अपनी चरम सीमा में पहुँच गयी, किन्तु प्रभु रूप महापुरुषों का जीवन अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए हुआ करता है। वे ज़िंदगी की क़लम से लिखी एक खुली किताब होते है, जीवन–पथ के यात्रियों के मार्गदर्शन के लिए। अपनी जीवन यात्रा में वे जिज्ञासुओं के लिए पद चिन्ह छोड़ जाते हैं, इस लिए उनकी कहानी चरम पर पहुँच कर भी एक शुरूआत बन जाती है। जैसे अध्यापक प्राइमरी में प्राइमरी की, मिडिल में मिडिल की और एम.ए. में एम.ए. की योग्यता दर्शाता है, इसी तरह महापुरुष पूर्ण होते हुए भी गृहस्थी, जिज्ञासु, सेवक और शिष्य– सारे आदर्शों को अपने जीवन में प्रस्तुत करते हैं।

गुरु और गुरुमुख की कहानी

ग्रहणशीलता से पिता–पूत की, गुरु और गुरुमुख की कहानी शुरू होती है, जो विकास की विभिन्न स्थितियों से गुज़र कर उस मंज़िल पर पहुँचती है, जहाँ

पिता–पूत में, गुरु और शिष्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता और वह (शिष्य) सेंट पॉल के शब्दों में पुकार उठता है :

"It is I, not now I, it is Christ but lives in me."

अर्थात् "यद्यपि मैं वही हूँ, परन्तु अब 'मैं' नहीं रहा, क्योंकि अब मेरे अन्तर में निवास करने वाला मसीह है।" यह प्रेम की पुरातन परम्परा है।

प्रेम गली अति सांकरी जा में दो न समांहि।

यहाँ दो से एक होकर चलना पड़ता है। शिष्य अपना अस्तित्व गुरु में लीन कर देता है। सूफ़ियों की परिभाषा में वह 'फ़ना–फ़िलशेख़' हो जाता है, गुरु में समा जाता है। जो प्रभु में समा गया वो (सूफ़ियों की इस्तेलाह या परिभाषा में) 'फ़ना–फ़िल्लाह' हो जाता है, प्रभु में समा जाता है। महाराज कृपाल सिंह जी के शब्दों में "गुरु God-man (प्रभु में अभेद) है, अर्थात् God (परमात्मा) जमा इन्सान। जो Guru-man अर्थात् गुरुमुख बन गया, प्रभु उस में आ गया कि नहीं?"

Receptivity या (गुरु से) ग्रहणशीलता जो संत कृपाल सिंह जी महाराज को पुरबले संस्कारों और गुरु कृपा की देन थी, उसे कैसे पैदा किया जाए? एक ऐसा शिष्य, जिसकी पिछली background या पृष्ठभूमि नहीं, उसे कैसे प्राप्त कर सकता है? इस संदर्भ में महाराज कृपाल सिंह जी का मशहूर कथन सामने आता है, "एक इन्सान ने जोकिया है, वही काम अन्य दूसरा इन्सान भी कर सकता है, यदि उसे सही मार्गदर्शन और मदद मिले।" उन के गुरुपद काल ही में नहीं शिष्यत्व काल में भी इस बारे में (गुरु से दिल से दिल को राह बनाने के बारे में) बहुत लोगों ने उनके मार्गदर्शन और सहायता से लाभ उठाया। अपने प्रवचनों और लिखतों में गुरु से यक़दिली बनाने का मज़मून का (जिसे वो परमार्थ का मूल और आधार मानते थे) ऐसा सुविस्तार और बोधगम्य स्पष्टीकरण उन्होंने किया है, और ऐसी पते की बातें बताई हैं कि अध्यात्म के पूरे साहित्य में कोई मिसाल नहीं मिलती। इस सिलसिले में गुरु–दर्शन पर वे बड़ा ज़ोर देते थे। गुरु दर्शन के बारे में बड़ी गूढ़ बातें आप बताया करते थे। दर्शन के प्रसंग में अपने सत्संग प्रवचनों में हुज़ूरे–पुरनूर उपासना का आदर्श प्रस्तुत करते थे (उप–आसन) अर्थात् पास बैठना। पास बैठना ये नहीं हैं कि,

दिल दिया कहीं और ही, तन साधु के संग।

साधु संग अर्थात् साधु के पास बैठना यह है कि दर्शन में इतना लीन हो जाए कि तन–मन की सुधि भूल जाए। अपने जीवन का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए फ़र्माया करते थे :

"हुज़ूर अपने काम में लीन होते, मैं चुप–चाप बैठा देखता रहता। अभिनेता होता है ना, उसकी हर बात में अभिनय होता है, खाने–पीने में, उठने–बैठने में, बोलने–चालने में। एक तो उसका वास्तविक स्वरूप, जो वह स्वयं आप है (अर्थात् परमात्मा); एक जो वो बन के आया है, जो पार्ट वह करता है (अर्थात् इन्सान)। हमारी तरह ही मानव देह वह रखता है, लेकिन वह कुछ और भी है। वह सदेह–परमात्मा है। चित्तवृत्ति एकाग्र कर के चुप–चाप बैठे देखते रहो, तो God-in-man की, प्रभु–सत्ता जो गुरु के मानव तन में काम करती है, उसकी झलक मिलती है।"

जब आप श्री हुज़ूर महाराज जी के चरणों में जाते, तो 'दीदा शौ यक़सर' अर्थात् सर्वथा आँख बन जाते, अपलक नेत्रों से चुप–चाप देखते रहते। दर्शन में ऐसे लीन हो जाते कि तन–बदन की सुधि न रहती। पास बैठे लोगों को एक आनन्द की अनुभूति होती, मुफ़्त नशा मिल जाता। एक दिन आप सत्गुरु दयाल के दर्शनों में लीन थे, कोई और वहाँ मौजूद न था। एक भक्त महिला ने देखा, तो शोर मचा दिया, "मैंने आप दोनों की चोरी पकड़ ली है।" सत्गुरु दयाल हंसकर कहने लगे, "क्या चोरी पकड़ ली है?" "आप दोनों देह में नहीं हो, उठकर आँखों में आ गए हो।"

ऐसे कई दृष्टान्त उनकी जीवन गाथा में मिलते हैं, जिन पर अमर जीवन की मुहर लगी हुई है, जो उन्होंने ख़ुद पाया और जिस का अंश दुनिया भर के परमार्थभिलाषियों को देते रहे। उनकी हर लिखत, हर कथन उनका, उस जीवन का, abundance of heart का, उनके करुणामय हृदय के अनन्त स्रोत का, रंग और असर लिए हुए है। उदाहरणार्थ उपरोक्त विषय (अर्थात् परमार्थ में रसाई, जो गुरु से एकात्मता की देन है), पर उनका ये सारगर्भित कथन, "मैंने सत्गुरु दयाल से कभी कोई सवाल नहीं किया। बस चुप–चाप बैठे दर्शन करता रहता। देखने–देखने में मुझे सब कुछ मिल गया, बिन मांगे मिल गया।"

जीवन की पड़ताल

जीवन की पड़ताल की डायरी, परमार्थाभिलाषियों तथा सतपथ के यात्रियों को संत कृपाल सिंह जी महाराज की ख़ास देन है तथा यह उनके अपने जीवन, अनुभव और विश्व के सारे धर्मों–मज़हबों–मतों की शिक्षाओं के तुलनात्मक अध्ययन का निचोड़ है। उन्होने स्वयं सात साल की उम्र में डायरी रखना शुरू कर दिया था, जिसमें दिन भर की ग़लतियों की कड़ाई और बेलिहाज़ी से लिखते, और आगे के लिए उन ग़लतियों से बचने का यत्न करते। आगे चल कर जब उन्होंने गुरु पद पर कार्य शुरू किया, तो आत्म–निरीक्षण की डायरी को एक ऐसा वैज्ञानिक रूप दिया, जिसमें दुनिया के सारे धर्मग्रंथों और आज तक आए सारे महापुरुषों की शिक्षाओं का निचोड़ डायरी में प्रस्तुत कर दिया और अपने शिष्यों और सत्संगीजनों को डायरी के द्वारा अपनी त्रुटियों को चुन–चुन कर बाहर निकालने पर ज़ोर देते रहे। डायरी के विषय में आप फ़रमाते थे कि इन्सान कुछ भी न करे, सच्चाई के साथ केवल डायरी भरना शुरू कर दे, तो उसका जीवन पलटा खा जाएगा और दिल का दर्पण साफ़ हो कर सत्य की झलक उसमें पड़ने लगेगी। डायरी के बारे में हुज़ूर महाराज जी ने विस्तार के साथ कहा और लिखा है। यहाँ उनका एक ही कथन दोहराना काफ़ी है कि "हमें पता ही नहीं हम कहाँ खड़े हैं। यह पता हो कि हम गंदगी में बैठे हैं, तो उससे निकलने की कोशिश भी करेंगे। हमें पता ही नहीं हममें क्या त्रुटियाँ है। अपनी त्रुटियों को देखें, तभी पता चले। अपनी तरफ़ नज़र मार कर देखें, तो दूसरों के दोष निकालने की फ़ुर्सत ही न मिले।"

अपने व्यस्त–अति–व्यस्त जीवन में उन्होंने कई किताबें लिखीं, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण किताब, वर्तमान युग का महान धर्मग्रंथ, 'गुरुमत सिंद्धात' है। यह अमर रचना, जो गुरुमुखी भाषा में है, दो भागों में, दो हज़ार पृष्ठों में फैली हुई है। इसमें गुरुग्रंथ साहिब और दुनिया के सभी समाजों के धर्मग्रंथों के प्रमाण देकर सिद्ध किया गया है कि धर्मग्रंथ, जो आज तक लिखे गये और महापुरुष, जो आज दिन तक आए, सबकी मूलभूत तालीम एक ही है। इस महान ग्रंथ में दुनिया के सारे धर्मग्रंथों का सार प्रस्तुत किया गया है। पश्चिम के परमार्थाभिलाषियों के लिए आपने अंग्रेज़ी भाषा में कई ग्रंथ रचे। आपकी पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेज़ी, जर्मन, फ़्रेंच, स्पेनिश, इंडोनेशियन, रूसी और ग्रीक (भारत के अतिरिक्त विश्व की कुल 14 भाषाओं में) हो चुका है।

अध्यात्म का सार्वभौम प्रसार

36 वर्ष की सरकारी नौकरी के बाद, मार्च 1947 ई॰ में, आप डिप्टी असिस्टेन्ट कन्ट्रोलर ऑफ़ मिलिट्री एकाउन्ट्स के पद पर रिटायर हुए और उसके बाद, सत्गुरु दयाल हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के मिशन को पूरा करने में लगे रहे, जब वे 2 अप्रैल, 1948 ई॰ को अपना रूहानियत का, अर्थात् जीवों के कल्याण का काम, आपको सौंप कर परमधाम सिधार गये। गुरु के आदेशानुसार आपने 1948 ई॰ में रूहानी सत्संग और 1951 में दिल्ली में 'सावन–आश्रम' की स्थापना की, जहाँ जात–पात, रंग–वर्ण, देश व समाज के भेद–भाव के बग़ैर हरेक परमार्थाभिलाषी को, आत्मतत्व का व्यक्तिगत अनुभव उन्होंने प्रदान किया। धर्म को और प्रभु को मानने वाले लोगों को– वो किसी भी धर्म, देश, जाति, नस्ल के हों– आपस में जोड़ने और मिलाने की साँझी धरती, Common Ground, जो हुजूर बाबा सावन सिंह जी महाराज के ज़माने में क़ायम हो चुकी थी और जिसके रूहानी फैज़ (पारमार्थिक लाभ) का सिलसिला (अर्थात् परमार्थाभिलाषियों को मन–इन्द्रियों से ऊपर लाकर आत्मानुभव प्रदान करने के कार्य का सिलसिला), जो भारत के कोने–कोने में और भारत से बाहर यूरोप, इंग्लैंड और अमरीका तक फैल चुका था, उस काम को उन्होंने अपने 26 वर्ष की पल–पल कार्यरत, व्यस्त–अति–व्यस्त रूहानी पादशाही में और आगे बढ़ाया और इतना आगे फैलाया कि यूरोप के लगभग सभी मुल्कों, अफ़्रीका के विभिन्न देशों, इंग्लैंड, (उत्तरी तथा दक्षिणी) अमरीका, कॅनेडा, पूर्व में मलाया, कोरिया, ऑस्ट्रेलिया, इंडोनेशिया आदि देशों में रूहानी सत्संग की 250 से ऊपर शाखायें उनके जीवन काल में स्थापित हो चुकी थीं।

विश्व यात्राएँ

1955 में उन्होंने पश्चिम–यूरोप, इंग्लैंड, अमरीका आदि की यात्रा की और लोगों को आत्मानुभव की दात दी। उस ऐतिहासिक विदेश यात्रा में उन्होंने, जो महान कार्य सार्वभौमिक स्तर पर उन्हें करना था, उसकी पक्की नींव रखी और अपने महान सत्गुरु की रूहानी दात के डंके सारी दुनिया में बजा दिये। पश्चिमी देशों में भाषण पर टिकट लगता है, जिसका एक हिस्सा वक़्ता को मिलता है। महाराज जी ने हर जगह free talks (मुफ़्त व्याख्यान) दीं। लोगों ने उन्हें धन देना चाहा, तो उन्होंने कहा, "क़ुदरत की सारी दातें– रोशनी, पानी, हवा–

मुफ़्त हैं और सबके लिए हैं। रूहानियत (आत्मज्ञान) भी कुदरत की देन है; वह सब के लिए है और सबको मुफ़्त मिलेगी।" दो वर्ष पश्चात, 1957 में दिल्ली में वे सर्व–सम्मति से 'World Fellowship of Religions' ('विश्व सर्वधर्म संघ') के प्रधान चुने गये, जिसे उसके संयोजक, मुनि सुशील कुमार जी महाराज एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का रूप देना चाहते थे। महाराज जी ने उसका संविधान बनाया और उस संस्था के अन्तर्गत जो चार विश्व सम्मेलन, 1957 में दिल्ली में, 1960 में कलकत्ता में और 1963 और 1970 में फिर दिल्ली में हुए, वे सब उनकी अध्यक्षता में हुए। इन सम्मेलनों के फलस्वरूप धर्मों का एक शक्तिशाली common platform या सयुंक्त मंच बना, विभिन्न धर्मों के लोगों के एक जगह मिल बैठने और विचार–विमर्श करने की प्रथा चली, जिससे आपस की ग़लतफ़ह. मियाँ दूर हुईं और लोग एक–दूसरे के क़रीब आने लगे, भेद–भाव दूर हुए, धर्मांधता, ता'स्सुब, तंगदिली कम हुई और समन्वय और सहिष्णुता की भावना को बढ़ावा मिला। मगर उसके साथ ही लोगों में अपने–अपने समाज को आगे बढ़ाने की भावना बनी रही, बल्कि और मज़बूत हुई और ऐसी आवाज़ें सुनाई देने लगीं, "दुनिया भर के हिन्दुओं, एक हो जाओ; मुसलमानों, एक हो जाओ।" इस चीज़ को देखकर महाराज जी इस नतीजे पर पहुँचे कि अब इसके बाद एक और क़दम आगे बढ़ाना होगा।

धर्मों और मज़हबों का, सभी समाजों का उद्देश्य तो यही है न कि इन्सान नेक–पाक–सदाचारी बनें, सही मा'नों में इन्सान बनें। यह सोचकर उन्होंने एक महान क्रान्तिकारी क़दम उठाने का फ़ैसला किया, जो 'मानव– केन्द्र' की स्थापना और 'विश्व मानव एकता सम्मेलन' के रूप में दुनिया के सामने आया।

1962 में ईसाईयों की डेढ़ हज़ार वर्ष पुरानी धर्म संस्था, 'Sovereign Order of St. John of Jerusalem, Knights of Malta' ने, जो मुस्लिम–ईसाई धर्मग्रंथों में 'Knights Templar' कहलाते थे, उन्होंने महा. राज जी को 'Grand Commander' की उपाधि से सम्मानित किया। इसके लिए उन्हें अपने डेढ़ हज़ार वर्ष पुराने संविधान में संशोधन करना पड़ा। सिक्ख समाज के एक महापुरुष को धर्मवीर मानकर उन्होंने स्वीकार किया कि धर्म और आस्तिकता ईसाईयों का एकाधिकार नहीं। कॅथोलिक ईसाईयों के धर्मगुरु पोप ने आपसे भेंट करने के बाद ग़ैर–ईसाइयों से मेल–जोल बढ़ाने की

घोषणा की और इस हेतु जो सलाहकार समिति बनायी, उसमें महाराज कृपाल सिंह जी का नाम भी शामिल किया।

1963 में हुजूर दूसरी बार विश्व यात्रा पर गये। तब तक रूहानी सत्संग की दो सौ शाखायें सारी दुनिया में फैल चुकी थीं। इस यात्रा में उन्होंने रूहानी सत्संग की शाखाओं का गठन किया, नई शाखायें स्थापित कीं, नए परमार्थाभिलाषियों को नामदान दिया और साथ ही मानव एकता और 'विश्व सर्वधर्म सम्मेलन' के common platform का संदेश लोगों को दिया। दूसरी विश्व यात्रा में हुजूर महाराज जी ने विभिन्न स्तरों पर काम किया। वे हुक्मरानों (विभिन्न देशों के सत्ताधीशों) से मिले और उन्हें बताया कि प्रभु ने लाखों लोगों की सुरक्षा और कल्याण का जो काम उन्हें सौंपा है, उसे पूरी ईमानदारी के साथ पूरा करें। यदि पड़ोसी देश अव्यवस्थित या कमज़ोर पड़ जाए, तो वे उसकी मजबूरी का लाभ उठा कर उसका शोषण न करे, बल्कि उसकी सहायता करें। वे राजनीतिज्ञों, जन–नायकों, धर्माचार्यों, सभी से मिले। ईसाई समाज की प्राचीनतम धर्म संस्था से सम्मान प्राप्त करने के कारण उनके लिए सारे गिरजों के दरवाज़े खोल दिए गए थे और इस यात्रा की अधिकतर talks (प्रवचन) उन्होंने गिरजों में दी, बल्कि नामदान तक गिरजों में दिया; ये बात आज तक नहीं हुई थी। अगस्त 1972 से जनवरी 1973 तक, पाँच महीने की अपनी तीसरी और आख़िरी विश्व यात्रा में, हुज़ूर महाराज ने सिर्फ़ एक काम किया— खुले आम लोगों को नामदान देने का। उपदेश–प्रवचन के बाद अगले दिन सबको भजन पर बिठा दिया जाता और नामदान अभिलाषियों को, हरेक को नामदान दिया जाता।

मानव-केन्द्र की स्थापना

1969 में हुज़ूर महाराज जी की हीरक जयन्ती सब समाजों ने मिल कर मनायी। विश्व एकता और राष्ट्र नवचेतना के अग्रदूत और मार्गदर्शक का इससे बढ़कर अभिनन्दन नहीं हो सकता था कि उनकी हीरक जयन्ती का वर्ष 'राष्ट्रीय एकता वर्ष' के रूप में मनाया गया। सभी समाजों ने उस वर्ष राष्ट्रीय एकता के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने का प्रण किया। महाराज जी मंच पर भाषण करके संतुष्ट हो जाने वाले नहीं थे। उसी वर्ष उन्होंने 'मानव–केन्द्र' की योजना बनायी। उसमें श्री काका साहिब कालेलकर, प॰ दीनानाथ दिनेश और अन्य महापुरुषों को साथ लिया और 1970 में, देहरादून में 'मानव–केन्द्र' का भव्य स्वरूप, भारत

का सबसे बड़ा पक्का अंडाकार सरोवर, बाग़, अस्पताल आदि बनकर तैयार हो गये। हीरक जयन्ती के अवसर पर अपनी जन्मतिथि, छः फ़रवरी के अनुरूप, छः शब्दों में उन्होंने अपनी तालीम का जो निचोड़ पेश किया था, 'भले बनो, भला करो, एक रहो'— 'मानव–केन्द्र' उसका साकार स्वरूप था।

विश्व मानव एकता सम्मेलन

'विश्व सर्वधर्म सम्मेलन' के महान कार्य और उसके व्यापक प्रभाव का उन्हें पूरा अहसास था। लेकिन उन्होंने देखा और अपने प्रवचनों और किताबों में कहा और लिखा कि समाजों के विवेकवान लोग (नेता गण, धर्माचार्य) तो बहुत हद तक एक हो गए है और भेद–भाव से ऊपर उठ गए हैं, लेकिन उनके अनुयायियों में वो बात पैदा नहीं हुई। तभी उन्होंने धर्म की बजाय मानव और मानवता के आधार पर एकता सम्मेलन बुला. ने का निश्चय किया। विश्व के इतिहास में अपने ढंग का यह पहला प्रयास था। इससे पहले सम्राट अशोक और हर्ष के ज़माने में जो सम्मेलन हुए, वे धर्म के आधार पर हुए थे। दिल्ली और पूरे देश में इतना बड़ा विश्व स्तर का सम्मेलन इससे पहले कभी नहीं हुआ था। विभिन्न देशों के पाँच सौ से अधिक प्रतिनिधि इसमें शामिल हुए। भारत के प्रतिनिधि उनके अतिरिक्त थे। इस सम्मेलन की एक बड़ी विशेषता यह थी कि यद्यपि इसके लिए धन और साधन 'रूहानी–सत्संग' ने जुटाये, लेकिन महाराज जी ने ये सम्मेलन रूहानी–सत्संग की तरफ़ से नहीं किया, बल्कि सब समाजों के सम्मिलित तत्वावधान में किया। उन्होंने सम्मेलन के आठ सचिव नियुक्त किए, जो विभिन्न समाजों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। महाराज जी के शब्दों में, "परमात्मा ने इन्सान बनाये। उसने मुहर (ठप्पा) लगा के नहीं भेजा कि यह हिन्दू है, यह मुसलमान। समाजें इन्सान ने बनाईं, इसलिए कि इन्सान सही मा'नों में इन्सान बने, नेक–पाक–सदाचारी बने, इन्सान इन्सान के काम आये, जिससे उसकी जीवन यात्रा सुख से व्यतीत हो और फिर सब मिलकर, जहाँ जिस समाज में जो कोई है, उसमें रहते हुए और अपनी–अपनी समाज मर्यादा का पालन करते हुए, उस लक्ष्य को पाये, जो मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य और सब समाजों का साँझा आदर्श है। समाजें इन्सान के लिए बनी, इन्सान समाजों के लिए नहीं बना था; मगर वह मक़्सद किनारे रह गया। हम समाजों के उद्देश्य (मानव–निर्माण और

प्रभु–प्राप्ति) को भूलकर अपने–अपने समाजों को ही बनाने–सँवारने में लग गए।" 'विश्व मानव एकता सम्मेलन' में हुजूर महाराज जी ने इन्सान और इंसानियत के आधार पर एकता का आदर्श पेश किया। उन्होंने कहा कि "इन्सान सब एक हैं। बाहर की और अन्दर की बनावट सबकी एक है। एक ही तरह से सब पैदा होते हैं और मरते हैं। वह हक़ीक़त सबमें हैं, सबकी पैदा करने वाली, प्रतिपालक और जीवनाधार है। एकता तो आगे ही मौजूद है, मगर हम भूल गए हैं।" उस व्यापक जन्मजात एकता के आधार पर उन्होंने इन्सान इन्सान को मिलाने का ये महान प्रयास किया।

पहली अगस्त 1974 में (महाप्रयाण से 20 दिन पहले) भारत के संसद भवन में उनके सम्मान में एक सभा आयोजित की गयी, जिसमें उनका मानपत्र प्रस्तुत किया गया। इस सभा की अध्यक्षता संसद के स्पीकर श्री गुरदयालसिंह ढिल्लों ने की। संसद के इतिहास में ये पहला मौक़ा था, जब संसद सदस्यों की ओर से संसद भवन में एक आध्यात्मिक महापुरुष को सम्मानित किया गया।

संत कृपाल सिंह जी महाराज ने विभिन्न स्तरों पर और दिशाओं में विश्व में नव जाग्रति और नव चेतना के जो बीज बोए, वे एक दिन फल लायेंगे और वह वक़्त आ गया है। जैसा कि वे आख़िरी दिनों में कहा करते थे, "सतयुग कोई आसमानों से फट पड़ने वाला नहीं, कलयुग के घोर अंधकार ही से उसका अभ्युदय होगा, और वह दिन दूर नहीं। यह जो नयी चेतना, नयी जाग्रति सब समाजों में दिखाई दे रही है, वह प्रभु–प्रेरणा से है और सतयुग के अभ्युदय की निशानी है।"

सावन-कृपाल दयाधारा का नया दौर

हुजूर संत कृपाल सिंह जी महाराज अपने जीवन की संध्या–बेला अक़्सर कहा करते थे कि मेरा मिशन मेरे बाद भी जारी रहेगा और दिनों–दिन आगे बढ़ेगा और फैलेगा। आज, उनके अनामी पद लीन होने के दस साल बाद, "सावन–कृपाल रूहानी मिशन" के अंतर्गत हम इन दो महापुरुषों की विशाल दयाधारा को नई–नई दिशाओं में बढ़ते–फैलते देख रहे हैं। इतनी तेज़ी से काम आगे बढ़ा–फैला है कि देख कर अक़्ल चक्कर खाती है। आज वही कार्य संत दर्शनसिंह जी महाराज के उत्तराधिकारी, संत राजिन्दर सिंह जी महाराज की देखरेख में चल रहे हैं।